चेतना विकास मूल्य शिक्षा

कक्षा 7

अनुक्रमाणिका

भाग	पाठ	नाम	पृष्ठ सं.
		वंदना	
1. मानव लक्ष्य			
	पाठ 1	समाधान	5
	पाठ 2	समृद्धि	9
2. अस्तित्व सहज व्यवस्था			
	पाठ 3	अस्तित्व सहज व्यवस्था	14
	पाठ 4	हमारी धरती एक व्यवस्था	18
	पाठ 5	पदार्थ अवस्था	22
	पाठ 6	प्राण अवस्था	25
	पाठ 7	जीव अवस्था	29
	पाठ 8	ज्ञान अवस्था	32
	पाठ 9	मानव संचेतना	36
3. अखंड समाज			
	पाठ 10	परिवार व्यवस्था	39
	पाठ 11	संबंध	42
	पाठ 12	मूल्य	48
	पाठ 13	सामाजिक पूरकता	55

	पाठ 14	उत्सव	59
4. सार्वभौम व्यवस्था			
	पाठ 15	मानव इतिहास	62
	पाठ 16	मानवीय व्यवस्था	66
(क) शिक्षा–संस्कार			
	पाठ 17	दृष्टा, कर्ता, भोक्ता	70
	पाठ 18	नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म, सत्य	73
	पाठ 19	ज्ञान, विवेक, विज्ञान	76
(ख) स्वास्थ्य–संयम			
	पाठ 20	शरीर–व्यवस्था	79
	पाठ 21	श्रम एवं विहार	83
(ग) उत्पादन–कार्य			
	पाठ 22	मानवीय उत्पादन–कार्य	86
(घ) विनिमय–कोष			
	पाठ 23	मानवीय विनिमय–कोष	90
(ङ) न्याय–सुरक्षा			
	पाठ 24	न्याय–सुरक्षा	93

वंदना

वंदना उनकी करें, जिनसे सुशोभित है धरा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

जिनसे दिशा हमको मिली, नित मानवीय मार्ग की।
पथ मिला निश्चित हमें थी, कामना जिस मार्ग की।।
कृतज्ञता से सौम्यता की, नित्य आयी निरंतरा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

जिनका है चिन्तन शुभ यही, कैसे हो मानव सुखमयी?
प्रेरणा से जिनकी है, मानव का जीवन सुखमयी।।
श्रद्धा समर्पित जिनसे आए, मानवीय परम्परा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

सबके सुख की कामना ले, रहती जिनकी कल्पना।
निकली जिनसे मानवीय पथ, हेतु निश्चित योजना।।
पूज्यता उन हेतु जिनसे, है सुसज्जित वसुन्धरा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

– **प्रदीप पूरक** बिजनौर, (उ.प्र.)

पाठ–1

समाधान

हम सभी मानव का लक्ष्य – समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व है, और हम सभी इसे अपने जीवन में प्रमाणित करना चाहते हैं। इन चारों लक्ष्य की पूर्ति से हम निरंतर सुखी, शांति, संतोष और आनंदपूर्वक रहते हैं, और यह हम सभी मानव की चाहना है।

इन चारों लक्ष्य की पूर्ति की हमारी चाहना – संपूर्ण अस्तित्व को समझने से सिद्ध होती है। संपूर्ण अस्तित्व, एक सहज संगीतमयी व्यवस्था है, जिससे हम सभी समझ सकते हैं। समझने की सहज प्रक्रिया, संबंधपूर्वक होती है, अर्थात हम सभी एक दूसरे के साथि स्नेह और प्रेम पूर्वक जीते हुए पूरा करते हैं और आने वाली मानव वंशज के समझने और मानवीय लक्ष्य को पूरा करने के अवसर निर्मित करते हैं।

समझने की अपनी इस यात्रा को हम अपने जीने की चार सहज स्थिति/परिस्थिति को समझने से शुरू करते हैं। हम सभी मानव

– स्वयं में जीते हैं

– परिवार में जीते हैं

– समाज में जीते हैं

– प्रकृति और अस्तित्व में जीते हैं

हम सभी मानव स्वयं में कल्पना, विचार या इच्छा करते हैं। कल्पना, इच्छा, विचार और आशा करने के साथ–साथ हम भोजन करना, आराम करना आदि जैसे कई क्रियाकलाप भी करते हैं। इस प्रकार हम सभी मानव स्वयं के साथ हर पल जीते हैं।

स्वयं में जीने के साथ–साथ हम सभी मानव संबंधों में भी जीते हैं। हमारा जन्म किसी परिवार में हुआ है। हम सभी के माता और पिता है। हम में से अधिकतर लोगों के भाई और बहन

भी है। परिवार में होने से हमारे जो संबंध है, इनमें अपने कर्तव्य और दायित्व के साथ हम जीते हैं। यह परिवार में जीना है, और हम सभी मानव, अपने परिवारों के सदस्य है।

हम और हमारे समाज का अंग हैं। कई परिवार के समूह में हम सभी रहते हैं। यह हमारे नीचे की एक सहज परिस्थिति है। समाज में हम कई प्रकार से भागीदारी करते हैं, और अन्य मानव की भागीदारी से हम अपने जीने के कई आयाम को पूरा कर पाते हैं। समाज में हम शिक्षा, स्वास्थ्य, विनिमय जैसे कई अनिवार्य आयाम की पूर्ति होती है।

हमारा जीना प्रकृति में होता है। प्रकृति में मिट्टी, पत्थर, पानी, पेड़–पौधे, खेत–खलिहान, पशु–पक्षी हैं, और यह सभी एक दूसरे के लिए उपयोगी है और एक दूसरे को समृद्ध भी करती है। यह प्रकृति इस पृथ्वी पर है और यह पृथ्वी और गृह गोल के साथ अस्तित्व में हैं। हम सभी मानव प्रकृति और अस्तित्व में जीते है और यह हमारे जीने की एक सहज परिस्थिति है।

इस प्रकार, इन यह चारों स्तर पर हमारा जीना है और यह कुल मिलकर हमारी स्थिति या परिस्थिति को इंगित करता है। आइये, मानवीय लक्ष्य – समाधान, समृधि, अभिय और सह अस्तित्व की पूर्ति हेतु हम समझने के क्रम में आगे बढ़ते हैं और इन चारों स्तर पर जो संबंध पूर्वक, संगीमयी व्यवस्था है, उससे हम पहचानने का प्रयास करते हैं।

यह संबंधपूर्वक व्यवस्था को हम – सह अस्तित्व के नाम से इंगित करत है। यह संबंधपूर्वक व्यवस्था अर्थात सह अस्तित्व हमारे जीने की स्थिति और परिस्थिति में नित्य और निरंतर प्रभावी है। इसलिए इसको हम सह अस्तित्व का नियम भी कहते हैं। सह अस्तित्व के इस नियम को समझ कर इसके अनुसार कार्य और व्यवहार करने को समझदारी कहते हैं। सह अस्तित्व के नियम को हम अपने जीने के चारों स्तर पर पहचान सकते हैं–

– स्वयं में सह अस्तित्व को समझना

– परिवार में यह अस्तित्व को समझना

– समाज में सह अस्तित्व को समझना

– प्रकृति और अस्तित्व में सह अस्तित्व को समझना

हम मानव, शरीर और जीवन का संयुक्त स्वरूप है। जीवन और शरीर के साथ–साथ होने को समझना ही स्वयं में सह अस्तित्व को समझना है। शरीर एक भौतिक रासायनिक वस्तु है, और जीवन एक चैतन्य वस्तु है। हमारी कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता की शक्ति हमारे 'जीवन' का ` प्रमाण हैं हम सभी स्वयं में इच्छा, विचार और आशा की क्रिया के प्रति जागृत हो सकते है, और यह हमारे 'जीवन' या 'चैतन्य वस्तु' की क्रियाएँ है। जीवन और शरीर के सह अस्तित्व को पूर्ण रूप से समझने को हम दृष्टा पद प्रतिष्ठा भी कहते हैं।

मानव और मानव के बीच में संबंध का भाव ही, मानव के व्यवहार का आधार है। संबंध के भाव को समझना, उनको अपने जीने में पहचानना और उसको अनुभव करना, परिवार की संगीतमयी व्यवस्था का आधार है। संबंध के भाव के साथ–साथ, परिवार की व्यवस्था – पोषण, संगरक्षण और सेवा जैसे कर्त्तव्य और दायित्व के आधार पर सफल होती है। मानव–मानव संबंध ा सहित, परिवार व्यवस्था को समझना ही परिवार में सह अस्तित्व को समझना है।

मानव और मानव के बीच में संबंध का भाव ही, मानव के भागीदारी का आधार है और यह संबंध पूर्वक, एक सहज व्यवस्था है। अखंड मानव समाज में शिक्षा संस्कार, स्वास्थ्य संयम, विनिमय कोष इत्यादि जैसे समाज के अभिन्न आयाम को हम समझते हैं और संबंधपूर्वक इसे स्वरूप देते हैं। मानव समाज में अखंडता, सहज है, और भागीदारी पूर्वक यह सफल है।

प्रकृति समुच्चय, स्वतः ही एक सहज व्यवस्था है, जिसमें पूरकता नित्य प्रभावी है। यह प्रकृति में सह अस्तित्व है। इस कारणवश, चारों अवस्था (पदार्थ, प्राण, जीव और ज्ञान अवस्था) का आधार भी पूरकता रूपी, संगीतमयी व्यवस्था है। यह प्रकृति में सह अस्तित्व है।

अंततः संपूर्ण अस्तित्व, प्रकृति और व्यापक सत्ता का एक संबंधपूर्वक व्यवस्था है जिसमें विकास और जागृति निरंतर है। विकास और जागृति रूपी, सह अस्तित्व की व्यवस्था, संपूर्ण अस्तित्व में नित्य प्रभावी है।

सह अस्तित्व अर्थात संबंध के साथ व्यवस्था को समझ कर हम सभी मानव अपने मानवीय लक्ष्य – समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व को पातें है।

अभ्यास व अध्ययन

1. समाधान को अलग–अलग सूत्रों से स्पष्ट कीजिए।
2. समाधानित होने का प्रमाण क्या है?
3. हम सह–अस्तित्व को कहाँ–कहाँ पहचान पाते हैं?

पाठ–2

समृद्धि

हमने अच्छी तरह समझा है कि समाधान, समृद्धि, अभय और सह–अस्तित्व मानव लक्ष्य है। यह सभी मानव का लक्ष्य है। हर समय यही लक्ष्य विद्यमान रहता है। इसके अलावा मनुष्य का लक्ष्य होता नहीं है। भ्रमवश यदि अन्य को लक्ष्य मान लें तो हम तृप्त नहीं होते, अतृप्त रहते हैं।

इनमें भी समाधान, अभय और सह–अस्तित्व प्रत्येक मानव के लिए एक ही है। परन्तु समृद्धि प्राप्त करने के तरीके एवं वस्तुओं की मांग प्रत्येक परिवार के लिए अलग–अलग हो सकती है।

समाधान के अभाव में समृद्धि संभव नहीं है। समाधान से ही मनुष्य को अपनी आवश्यकता समझ में आती है। समाधान के अभाव में मनुष्य अपनी आवश्यकता को पहचान नहीं पाता है। फलतः अन्य वस्तुओं को आवश्यकता मानकर प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसी क्रम में वे वस्तुएँ कई बार प्राप्त होती हैं एवं कई बार वे वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती। जब वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती तब भी तृप्ति नहीं होती एवं जब वे वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं तब भी समृद्धि नहीं होती क्योंकि उन वस्तुओं से समृद्धि हो ही नहीं सकती। इस प्रकार समाधान हमारा प्रथम लक्ष्य है। समाधान से ही जीने का उद्‌देश्य, आवश्यकता की पहचान, आवश्यकताओं को उपार्जन करने के तरीके, उन वस्तुओं का सदुपयोग स्पष्ट होता है।

मनुष्य की आवश्यकता, परिवार में ही स्पष्ट होती है। परिवार में तीन पीढ़ी के लोग एक साथ रहते हैं एवं सभी आयु–वर्ग इसमें आ जाते हैं। इन सबको मिलाकर परिवार की आवश्यकता की पहचान हो पाती है। शैशव काल में शिशु अपने शरीर को हिलाने में भी सक्षम नहीं होता। इस समय शिशु की सेवा की जाती है। वातावरण के प्रतिकूल प्रभाव से बचाया जाता है। सुपाच्य

और पौष्टिक आहार दिया जाता है। इसी प्रकार वृद्ध लोगों के लिए भी सेवा एवं देख–रेख की आवश्यकता होती है। शरीर में रोग भी प्रायः हो जाते हैं। शरीर की शक्ति भी क्षीण हो जाती है। युवावस्था में शरीर स्वस्थ एवं सबल रहता है। सेवा, उत्पादन, दूर तक की यात्रायें करना, लम्बे समय तक श्रम करने योग्य शरीर होता है। आवश्यकता की दृष्टि से देखें तो आवश्यकता इसी आयुवर्ग में न्यूनतम होती है। इस प्रकार हम समझते हैं कि आयु–वृद्धि के साथ मनुष्य की आवश्यकता में थोड़ा परिवर्तन होता है। पूरे परिवार को एक साथ ध्यान देने पर पाते हैं कि ये आवश्यकताएँ निश्चित हैं।

मनुष्य का जन्म परिवार में होता है, परिवार में ही उसका जीना है। अकेले मनुष्य का कोई कार्यक्रम स्पष्ट नहीं है। अतः मनुष्य की आवश्यकता परिवार में ही स्पष्ट होती है।

वस्तुएँ अनन्त हैं, परन्तु मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित हैं। हमारे चारों ओर अनेक प्रकार की वस्तुएँ हैं जैसे–वृक्ष, मिट्टी, पत्थर, चाँद, सूर्य, तारे आदि। ये संख्या में अनंत हैं। इसी प्रकार मनुष्य निर्मित भी अनेक वस्तुएँ होती हैं जैसे – साईकिल, कलम, पुस्तकें, कपड़े, जूते–जुराब, झोले, मकान, कुर्सी, टेबल, कार, बस, वायुयान, जलयान आदि। इन वस्तुओं की संख्या भी अनेक हैं। क्या सभी वस्तुएँ मेरी आवश्यकता हैं? यह एक विचारणीय मुद्दा है !

मनुष्य की आवश्यकता को पहचानने के लिए शरीर एवं जीवन की आवश्यकता को पहचानना अनिवार्य है। जैसे – भोजन, वस्त्र, मकान – इन्हें हम सामान्य आकांक्षा भी कहते हैं। ये शरीर की आवश्यकता हैं। दिन भर में हम कितना भोजन करते हैं ? सीमित या असीमित ? यह निश्चित रूप में सीमित है।

इसी प्रकार वस्त्र हैं। हम वस्त्र क्यों पहनते हैं? शीत, उष्ण एवं तेज़ हवाओं के प्रभाव से बचने के लिए एवं लज्जा–संरक्षण के लिए। शीत, उष्ण एवं तेज़ हवाओं से शरीर अस्वस्थ हो जाता है। अतः शरीर–संरक्षण के लिए वस्त्र की आवश्यकता है। लज्जा–संरक्षण शरीर की आवश्यकता नहीं है। यह जीवन की आवश्यकता है।

वस्त्रों में एक महत्वपूर्ण बात है कि ये शीत, उष्ण, तेज़ हवा से रक्षा करने योग्य तो होने भी चाहिए और साथ ही, आरामदायक भी होने चाहिए। अर्थात इन्हें पहनकर हम चल सकें, कार्य कर सकें आसानी से उठ–बैठ सकें। वस्त्रों में आरामदायक होना एवं लज्जा–संरक्षण होना एक

अनिवार्य भाग है। इसे हम एक साथ सुन्दरता कहते हैं। इस सुन्दरता का सर्व–स्वीकृत नाम कला है। इसे कला मूल्य भी कहते हैं। वस्त्रों में जो विभिन्न रंग होते हैं – वे सभी इसी अर्थ में होते हैं जैसे– ग्रीष्म ऋतु में श्वेत रंग के वस्त्र आरामदायक होते हैं एवं शीत ऋतु में काले रंग एवं गहरे रंग के कपड़े। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के कपड़े भी बनाए जाते हैं। शीत ऋतु में गले एवं हाथ–पैर में वायु प्रवेश न करे – इस प्रकार के कपड़े पहने जाते हैं, जबकि ग्रीष्म में खुले कपड़े पहने जाते हैं। सुन्दरता या कला हमेशा उपयोगिता के साथ होती है।

इस प्रकार मनुष्य को वस्त्रों की आवश्यकता है। भिन्न ऋतु में भिन्न वस्त्र चाहिए। परन्तु ये सभी सीमित मात्रा या संख्या में चाहिए। अधिक संख्या में ये हाने पर इनके रख–रखाव, सफाई, सुरक्षा में बहुत श्रम एवं समय लगता है तथा महत्वपूर्ण कार्य के लिए समय कम मिलता है।

आवास का प्रयोजन भी ऋतुओं के प्रतिकूल प्रभाव एवं कीड़े–मकोड़े–पशु–पक्षियों के आक्रमण से बचना है। प्रयोजन को पूरा करने वाले आवास सुन्दर एवं कलात्मक कहलाते हैं।

इस प्रकार हम समझते हैं कि वस्तुएँ अनेक हैं, अनंत हैं परन्तु हमारी आवश्यकता सीमित है।

भौतिक वस्तुओं से ही समृद्धि होती है। इनके अलावा किसी और प्रकार से हमारे शरीर की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती। जैसे भूख लगने पर भोजन ही चाहिए। हमारे पास सोना–चाँदी हो तो उससे भोजन नहीं होगा, हमारी भूख नहीं मिटेगी। इसी प्रकार वस्त्र, मकान की आवश्यकता से समझ सकते हैं कि यह वस्तुओं से ही पूरी होती है। अतः वस्तुओं से ही समृद्धि होती है। रूपया–पैसा समृद्धि नहीं दे पातें। वे वस्तु नहीं, केवल प्रतीक हैं।

वस्तुएँ दो भाग में हैं – सामान्य आकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा। सामान्य आकांक्षा से ही समृद्धि का अनुभव होता है। महत्वाकांक्षा मे दूरश्रवण, दूरगमन एवं दूरदर्शन के यंत्र एवं उपकरण आते हैं। ये गति के लिए प्रयुक्त होते हैं। महत्वाकांक्षा से समृद्धि नहीं होती। मनुष्य समृद्ध होने पर महत्वाकांक्षा के यंत्र–उपकरण से अन्य स्थानों पर भी समृद्धि का अनुभव कर सकता है। समृद्धि का स्रोत सामान्य आकांक्षा की वस्तुएँ ही हैं।

वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए स्रोत यह धरती ही है। धरती पर ही हम–सभी साथ–साथ रहते हैं। जल एवं वायु का स्वेच्छापूर्वक उपयोग करते हैं। मानव का भोजन धरती पर ही उगता है। आवास

की वस्तुएँ भी धरती पर ही मिलती हैं। वस्त्र एवं महत्वाकांक्षा के सभी वस्तुएँ धरती से ही प्राप्त होती हैं।

धरती में कई वस्तुएँ ऐसे प्राप्त हो जाती हैं जिसका हम सीधा उपयोग करते हैं – जैसे कुछ फल – आम, जामुन, अमरूद, केला आदि। कुछ सब्ज़ी जैसे – खीरा, टमाटर, प्याज़ एवं कुछ मसालें जैसे – सौंफ, धनिया। इन्हें कच्चा खाया जा सकता है। इन सभी वस्तुओं को समय पर एकत्र करना पड़ता है – देर हो जाने पर ये नष्ट हो जाते हैं। अनुकूल समय की पहचान करके इन्हें यत्न पूर्वक सुरक्षित रखा जाता है। इस प्रक्रिया को सम्पादन कहते हैं।

अनेक वस्तुएँ धरती से सीधे प्राप्त नहीं होतीं – उन्हें निर्माण करना पड़ता है – जैसे मकान, वस्त्र, दूर संचार के उपकरण, अनेक औषधि।

कई वस्तुएँ धरती पर होती हैं परन्तु हमें विपुल मात्रा में आवश्यक होती है। उन्हें प्राप्त करने के लिए उपाय किए जाते हैं। जैसे धान, गेहूं, दालें। इन्हें कृषि के द्वारा प्राप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया को उत्पादन कहा जाता है। उत्पादन के अलावा समृद्धि का कोई उपाय नहीं हैं। सभी सक्षम व्यक्ति अपनी आवश्यकता को पहचानकर, उत्पादन में भागीदारी करते हैं। छोटे बच्चे, वृद्ध एवं बीमार लोग स्वयं उत्पादन नहीं कर पातें, अन्य सक्षम लोग उनकी इन आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। इस प्रकार परिवार एवं समाज की व्यवस्था बनी रहती है।

इस प्रकार हम समझते हैं कि साथ–साथ जीने पर पूरा मानव समाज समृद्ध होता है। इसके अलावा हमें अनेक प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इन सभी का निर्माण एक परिवार या सीमित परिवेश में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा संभव नहीं है। अनेक लोग मिल–जुल कर यह कार्य करते हैं तो कार्य आसान हो जाता है और सभी की समृद्धि होती है। इस प्रकार समृद्धि के लिए साथ–साथ जीना, एक दूसरे के लिए पूरक होना सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यक्रम एवं समझदारी है।

हम इस धरती पर रहते हैं। हमारे साथ अनेक प्रकार के जीव–जन्तु, पशु–पक्षी जीते हैं। ये सभी अपने शरीर की आवश्यकता को पूरा करते हैं। इनमें हाथी जैसे बहुत बड़े एवं शक्तिशाली जीव हैं। इनका भोजन प्रतिदिन कई क्विंटल हरी पत्तियाँ होती हैं और ये प्रतिदिन इसे पूरा करते हैं। चीटीं भी इसी प्रकार अपना भोजन प्राप्त करती है। अपने आवास का निर्माण अपने श्रम से ही

करती है। इस प्रकार हम समझते हैं कि प्रत्येक जीव–जन्तु अपनी आवश्यकता को पूरा कर रहे हैं।

मानव इन सभी जीवों से अधिक उन्नत है। अतः मानव के लिए भी समृद्धि की सम्भावना बनी हुई है। मानव इसे प्राप्त करने में सक्षम है।

अभ्यास व अध्ययन

1. समृद्धि का स्रोत कौन से प्रकार की वस्तुएँ हैं? क्यों?
2. हम वस्त्र क्यों पहनते हैं?
3. संपादन और उत्पादन को स्पष्ट कीजिए।

गतिविधि

(शिक्षक के लिए) "समृद्धि के लिए साथ–साथ जीना, एक–दूसरे के लिए पूरक होना सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यक्रम एवं समझदारी है।" इस वाक्य पर विस्तार से चर्चा कीजिए।

पाठ–3

अस्तित्व सहज व्यवस्था

जो है अथवा जिसकी वास्तविकता है उसको हम अस्तित्व कहते है। अस्तित्व में दो वास्तविकताएं हैं – व्यापक सत्ता और इकाइयाँ। हमारे आस–पास हमें मनुष्य, वनस्पति, पशु, जल और आकाश में चन्द्रमा, सूर्य और अनेक तारे दखिते है – यह सब इकाइयाँ है। अस्तित्व में सारी इकाइयाँ व्यापक सत्ता में डूबी, भीगी व घिरी हैं अर्थात संपृक्त हैं।

हम पृथ्वी को देखें, तो पृथ्वी निरंतर घूम रही है। अपनी धूरी पर चक्कर लगाते हुए, पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा भी कर रही है। इसी प्रकार चन्द्रमा भी घूम रहा है और सूर्य से हर दिन, हर वर्ष प्रकाश प्राप्त होता है। ये सारी इकाइयाँ निरंतर क्रिया कर रही हैं। हवा, जल, मिट्टी, पत्थर, वनस्पति, पशु–पक्षी में भी हम कोई न कोई क्रिया निरंतर देखते हैं। हमारे शरीर द्वारा भी हम सांस लेते हैं, घुमते, पढ़ते, सोते, खाते आदि हैं। हमारे मन में भी निरंतर विचार चलते हैं।

अस्तित्व में बड़े गृह–गोल से लेकर छोटी इकाइयों में निरंतर क्रिया हो रही है, पर इन सब इकाइयों का ऊर्जा स्रोत क्या है? व्यापक सत्ता में संपृक्त होने से अस्तित्व की हर इकाई उर्जित अथवा बल संपन्न हैं। अतः हर इकाई क्रियाशील है।

व्यापक सत्ता में कोई क्रिया नहीं होती पर सभी इकाइयाँ व क्रियाएँ व्यापक सत्ता में समाहित है। इसलिए व्यापक को क्रियाशून्य अथवा शून्य भी कहते हैं। इकाइयों में मात्रात्मक व गुणात्मक परिवर्तन होता रहता है। व्यापक सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं होता। व्यापक सत्ता स्थितिपूर्ण है।

व्यापक सत्ता अथवा शून्य हमें आँखों से दिखता नहीं पर हम व्यापक सत्ता को समझ सकते हैं। शून्य का अर्थ है खाली स्थान। खाली स्थान का अर्थ – इकाइयों के बीच व इकाइयों के भीतर खाली स्थान। जैसे ठोस पत्थर पर पानी दल दे, तो

V-7

कुछ पानी पत्थर के ऊपर बह जाता हैं व थोड़ा पानी पत्थर के भीतर चला जाता हैं। इसका अर्थ है की पत्थर में कुछ खाली स्थान है। एक इकाई में कई अणु होते हैं, और हर अणु में कई परमाणु होते हैं, और एक परमाणु में न्यूनतम दो अंश होते हैं। इन दो अंशों के बीच और अंशों के भीतर भी खाली स्थान होता है। अतः खाली स्थान हर जगह और हर समय है।

व्यापक सत्ता का फैलाव कहाँ तक है इस पर सोचते हैं। हम कल्पना करके देखें की विश्व का क्या विस्तार है? पृथ्वी के बाहर सौर मंडल दिखता है, जिसमें अनेक गृह हैं और ग्रहों के बीच खाली स्थान हैं। सौर मंडल के बाहर क्या होगा इसकी कल्पना करें। कई और सौर मंडल और आकाश–गंगा, जिसका एक भाग हमारा सौर मंडल भी है। इस आकाश–गंगा के बाहर क्या होगा? क्या विश्व की कोई सीमा हमें दिखती हैं? क्या आकाश या विश्व का छोर कल्पना में आता है? अगर कोई छोर है तो उस छोर के आगे क्या होगा? इससे हम या निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अस्तित्व की कोई सीमा नहीं हैं।

अस्तित्व में हमें इकाइयाँ कुछ–कुछ स्थानों पर दिखती हैं, अपितु, सत्ता हर स्थान पर है अर्थात सत्ता सारे अस्तित्व में फैला हुआ है। अतः सत्ता व्यापक है। व्यापक सत्ता और इकाइयाँ हर समय बने रहते अर्थात व्यापक सत्ता व इकाइयाँ सर्वकालिक हैं। परन्तु, इकाइयों में परिवर्तन होता है और व्यापक सत्ता मे कोई परिवर्तन नहीं होता। साथ ही, इकाई शुन्य में नहीं बदलती व शुन्य इकाई में नहीं बदलता।

अस्तित्व में दो प्रकार की इकाइयाँ है – जड़ और चेतन्य – जड़ इकाइयों में पहचानने व निर्वाह करने की क्रिया होती है। जैसे मिट्टी में हम बीज डाल दे तो बीज मिट्टी में अनुकूल वातावरण पाकर अंकुरित होता है। चेतन्य इकाइयों में पहचानने व निर्वाह करने की क्रिया होती है, इसके साथ–साथ उनमें जानने व मानने, ये दो क्रियाएँ और होती हैं।

आशा, विचार, इच्छ्ज्ञ, संकल्प, प्रमाणिकता, अनुभव – यह सारी क्रियाएँ चेतन्य इकाई की पहचान हैं। इन्हें हम स्वयं में पहचान व समझ सकते हैं। जड़ इकाई में मात्रात्मक व गुणात्मक परिवर्तन दोनों होते है, चेतन्य इकाई में सिर्फ गुणात्मक परिवर्तन होता है।

जैसे की हमने पहले समझा है कि अस्तितव की सारी इकाइयाँ चार अवस्थाओं में दिखती हैं – पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था व ज्ञान अवस्था।

इकाइयों की वास्तविकता की समझ उनके रूप, गुण, स्वभाव व धर्म से होती है। हम प्रधानतः इकाइयों को उनके रूप से पहचानते है। जैसे नीम का पेड़, किताब, गाय, चन्द्रमा, भवन आदि। रूप की समझ उस इकाई के आकार, आयतन व घन से है। इकाई का गुण,दूसरे इकाइयों पर उस इकाई का प्रभाव है। इकाई का स्वभाव, अन्य इकाइयों के साथ भागीदारी है। इकाई का धर्म, इकाई के होने व बने रहने से है।

मिट्टी, पत्थर, धातु, जल आदि पदार्थ अवस्था की इकाइयाँ हैं। इन्हें हम इनके रूप के आधार पर पहचानते हैं। इकाइयों की परस्परता में गुण समझ में आता हैं। जैसे पानी से आग बुझती हैं व पानी से मानव की प्यास बुझती है – यह पानी का गुण है। पदार्थ अवस्था में इकाइयों का स्वभाव संगठन व विगाथान है – जैसे मिट्टी के कणों के संगठन से पत्थर बनता हैं, व पत्थर के विगाथान से पत्थर मिट्टी में परिवर्तित हो जाता है। पदार्थ अवस्था की इकाइयों का धर्म उनका अस्तित्व है। पदार्थ अवस्था की इकाइयों का नाश नहीं होता, उनके केवल रूप व गुण में परिवर्तन होता है। अर्थात पदार्थावस्था की इकाइयों का अस्तित्व सार्वकालिक है। जैसे पानी को उबल दे तो पानी भाप में बदल जाता है, ठंडा करने पर भाप पानी में परिवर्तित हो जाता है परन्तु, पानी के कण बने रहते हैं। रूप व गुण में परिवर्तन होने से उनका नाश नहीं होता। साथ ही पदार्थ अवस्था की अनुशंगीयता परिणाम (मात्रा) अनुसार है।

इसी प्रकार प्राण अवस्था में हम पेड़–पौधे, उनकी विभिनन प्रजातियाँ, फल–फूल जैसे आम, नीम, केला, गुलाब, गेहूँ आदि के रूप को पहचानते है। प्राण अवस्था की इकाइयों को हम उनके प्रभाव अथवा गुण के आधार पर भी पहचानते हैं। जैसे नीम के पेड़ में हवा की शुद्धि का गुण हैं व मानव शरीर के स्वस्थ्य को बनाए रखने का भी गुण है। इसी तरह, प्राण अवस्था का स्वभाव हम सारक–मारक की तरह समझते हैं – जैसे हिमालय पर्वत के कुछ स्थानों पर बाँझ के पेड़ के नीचे आलू के उगने की अच्छी व्यवस्था है, यह एक दूसरे के सारक है। प्राण अवस्था का धर्म पुष्टि है। प्राण अवस्था की अनुशंगियता बीज परंपरा से है।

जीव अवस्था में हम गाय, बैल, घोड़ा, हाथी आदि का रूप पहचानते है। जीवों में हम गुण, प्राण अवस्था व अन्य अवस्था के समृद्धि के अर्थ में देखते हैं, जैसे जीवों के मल–मूल से मिट्टी पोषित होती है। जीवन अवस्था की इकाई का स्वभाव क्रूर–अक्रूर क रूप में पहचानते हैं, जैसे बैल के अक्रूर स्वभाव को पहचान, हम बैल का उपयोग करते हैं। जीवन अवस्था का धर्म जीने की आशा है। जीव अवस्था की अनुशंगीयता वंश के आधार पर है। अर्थात जीव वंशानुशंगी है।

मानव ज्ञान अवसाि की इकाई है और चेतन्य इकाई व मानव शरीर व संयुक्त रूप है। समझदार मानव में गुण दूसरे के सुख, समृद्धि व समाधान के सहायक होने के अर्थ में हम पहचानते हैं और स्वभाव धीरता, वीरता, उदारता की तरह पहचानते है, अर्थात स्वयं में सुखी, समाधाानित होकर, मानवीयतापूर्ण आचरण से व्यक्त होकर दूसरे की जाग्रति के लिए प्रेरणास्रोत होते हैं। मानव धर्म सुखी होता हैं। मानव संस्कार अनुषंगी हैं।

अवस्था	रूप – आकार	किया	स्वाभाव	धर्म	अनुषंगी
1. पदार्थ अवस्था	मिट्टी, धातु, पत्थर, मणि	रचना विरचना	संघटन विघटन	अस्तित्व	परिणाम
2. प्राण अवस्था	पद, पौधे, लता, गुल्म	श्वसन–प्रश्वसन	सारक–मारक	अस्तित्व सहित पुष्टि	बीज अनुषंगी
3. जीव अवस्था	पशु पक्षी	वंश केंद्रित	क्रूर अक्रूर	अस्तित्व सहित पुष्टि सहित जीने की आशा	वंश अनुषंगी
4. ज्ञान अवस्था	मानव	समझदारी केद्रित आशार विहार और कार्य–व्यवहार	धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा करूणा	अस्तित्व पुष्टि सहित, जीने की आशा सहित सुख	संस्कार अनुषंगी

अभ्यास व अध्ययन

1. सत्ता और इकाईयों में भेद स्पष्ट कीजिए
2. अस्तित्व में सभी इकाइयों में क्रियाएँ निरंतर हो रहीं हैं – इसे हम कैसे समझ सकते हैं?
3. जड़ और चेतन्य इकाइयों में क्या भेद है?
4. रूप, गुण, स्वभाव, धर्म को उदाहरणों सहित विस्तार से स्पष्ट कीजिए।
5. मानव का स्वभाव और धर्म क्या है?

पाठ–4

हमारी धरती एक व्यवस्था

हमारी धरती एक व्यवस्था है – यह बात हम अपने आस–पास में ही जांच सकते हैं। जैसा हमने पहले समझा है, धरती की संरचना को हम 3 भागों में देख सकते हैं – धरती का वायुमंडल, धरती की सतह और धरती का भूगर्भ। ये तीनों भाग धरती की सतह पर 4 अवस्थाएँ – पदार्थ, प्राण, जीव व ज्ञान अवस्था के होने और समृद्ध रहने में भागीदार कैसे हैं ? इन चारों अवस्थाओं में एक अनुपात है। जैसे मिट्टी, पत्थर, जल, धातु अथवा पदार्थ अवस्था; पेड़, पौधे अथवा प्राण अवस्था से अधिक हैं। इसी प्रकार प्राण अवस्था, जीव अवस्था से अधिक हैं और पशु या जीव–जंतु मनुष्यों से मात्रा में अधिक हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह अनुपात एक निश्चित अनुपात है और हर अवस्था के लिए उसका भोजन और उसके समद्ध होने के लिए धरती पर व्यवस्था है और क्रमशः साधन आवश्यकता से ज़्यादा है।

धरती की सतह पर देखें तो हमें कहीं जंगल दिखते हैं तो कहीं पहाड़, नदी, हरियाली तो कहीं रेगिस्तान।

थल पर सबसे ज़्यादा अनुपात मैदान का दिखता है। सतह पर एक परत दिखती है जिसको हम मिट्टी कहते हैं। मिट्टी वह परत है, जिसमें नमी होने से पेड़–पौधे उगते हैं। अलग स्थानों व अलग जलवायु में अलग–अलग प्रकार की मिट्टी मिलती है। जैसे, लाल, काली, रेतीली, चिकनी इत्यादि। अलग प्रकार की मिट्टी में अलग प्रकार के वनस्पति उगते हैं।

सपाट समतल भूमि को हम मैदान कहते हैं। इसका एक उदाहरण है उत्तरी भारत का मैदान। पहाड़–पर्वत हम उनको कहते हैं जिनकी ऊंचाई मैदान से ज़्यादा होती है और उनमें चोटियाँ व घाटी दिखती हैं। पहाड़ और पर्वत की ऊँचाइयों के बीच हमको जो दबी हुई सी भूमि दिखती है उसको हम घाटी कहते हैं। विश्व में अनेक पहाड़ श्रृंखलाएँ हैं और सबसे ऊँचे पहाड़ की श्रृंखलाएँ में से एक हिमालय है। ऊँचे पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ से ढकी हुई होती हैं।

धरती पर कुछ स्थानों पर मरुस्थल या रेगिस्तान भी दिखते हैं। जिन स्थानों पर रेत पाई जाती है, उन स्थानों को हम रेगिस्तान कहते हैं। जिस मिट्टी में नमी नहीं होती, उसको हम रेत कहते कहते हैं। रेगिस्तान दो प्रकार के होते हैं – गर्म व ठंडे रेगिस्तान। थार मरुस्थल एक गर्म रेगिस्तान है। गर्म रेगिस्तान में वाष्पीकरण होता है, जिससे नमी कम हो जाती है। इससे वनस्पति बहुत कम संख्या में पैदा होती है। रेगिस्तान में वर्षा भी कम मात्रा में होती है। ठंडी जगह पर रेतीले या पठार भूमि को ठंडा रेगिस्तान कहते हैं – जैसे लद्दाख व तिब्बत।

थल पर कुछ स्थानों पर बहुत सारे पेढ़–पौधे मिलते हैं जहाँ अधिक संख्या में वनस्पति पाई जाती हैं, उस जगह को हम वन या जंगल कहते हैं।

धरती की सतह पर, थल को हम महाद्वीप की तरह पहचानते हैं। जैसे एशिया महाद्वीप, अफ्रीका महाद्वीप और छोटे द्वीप जैसे अंदमान व निकोबार द्वीप। इन द्वीपों व महाद्वीपों के बीच विशाल जलाशय हैं जिन्हें हम सागर या महासागर कहते हैं – जैसे अरब सागर, हिंद महासागर या प्रशांत महासागर। सतह का 2/3 भाग जल है और 1/3 भाग थल है। थल पर अनेक नदियाँ पाई जाती हैं जैसे गंगा, यमुना, नर्मदा आदि। नदियाँ एक प्राकृतिक व्यवस्था हैं, जिनसे पिघले हुए बर्फ का पानी, वर्षा का पानी आदि सागर तक जाता है।

हम यह सोच सकते हैं कि धरती पर इस धरातलीय विभिन्नता का क्या प्रयोजन? सारी धरती बर्फ से ढकी, या पहाड़ी या मैदानी क्यों नहीं हैं? हम इन धरातलीय विभिन्नता को पहचानते तो हैं पर यह जिज्ञासा होती है कि यह विभिन्नता क्यों हैं? कैसे होता अगर पृथ्वी पर जल ज़्यादा या कम मात्रा में होता या पूरे धरती पर सिर्फ मैदान या सिर्फ पहाड़ ही होते? धरती पर अलग–अलग जगह पर अलग–अलग मात्रा में इस धरातलीय विभिन्नता का होना एक क्रम – एक व्यवस्था के अनुरूप है और इन सब में संबंध है।

पृथ्वी पर अगर जल की मात्रा अधिक होती तो अधिक नमी के कारण सतह पर मानव और जीव–जंतु के रहने के लिए कम ठोस भूमि होती और ज़्यादा भूमि पानी से भरी हुई या दलदल होती।

अगर थल की मात्रा ज़्यादा होती तो कम जल के कारण नमी और कम होती और सतह पर हमें अधिक मात्रा में रेगिस्तान मिलतें।

रेगिस्तान और हरियाली के भी एक निश्चित अनुपात से धरती पर उचित वातावरण है। वनस्पति व जीव–शरीर के पोषण के लिए अनेक धातु व पदार्थ की आवश्यकता है। यह आवश्यकता की पूर्ति वायुमंडल और धरती की ऊपरी परत से होती है। वायुमंडल में भी विभिन्न विरल पदार्थ हैं जो श्वसन–प्रश्वसन के माध्यम से जीव–शरीर में ग्रहण होते हैं।

वनस्पति व जीव–शरीर के पोषण के लिए अनेक पदार्थ व धातु आवश्यक हैं। ये पदार्थ भूगर्भ से ऊपर, सतह की मिट्टी में ही उपलब्ध हैं। मिट्टी से ये पदार्थ पेड़–पौधों तक पहुँचते हैं और पेड़–पौधों के माध्यम से आहार की तरह पशु–शरीर और मानव–शरीर में प्रवेश होते हैं। अलग जलवायु व स्थानों पर शरीर के पोषण की आवश्यकता वहाँ के वनस्पति से ही पूरी होती है।

जिस प्रकार से धरातलीय विभिन्नता में एक व्यवस्था और अनुपात है; उसी प्रकार पदार्थ, प्राण, जीव व ज्ञान अवस्था में भी एक निश्चित अनुपात हैं। पदार्थ अवस्था प्राण अवस्था से कहीं ज़्यादा मात्रा में है और क्रमशः जीव अवस्था व ज्ञान अवस्था। जितने भी पोषक तत्व वायु या धरती से प्राण अवस्था के लिए आवश्यक है; पदार्थ अवस्था में उनकी मात्रा उससे कहीं अधिक है अथवा प्राण अवस्था के समृद्धि के लिए आवश्यकता से अधिक उपलब्ध हैं। इसी प्रकार, जीव अवस्था के समृद्ध होने के लिए वायु, जल, वनस्पति आदि आवश्यकता से कहीं अधिक है। उसी प्रकार जितनी आवश्यकता पूरे मानव जाति को अपने शरीर के पोषण, संरक्षण व सदुपयोग के लिए है; पदार्थ, प्राण व जीव अवस्था में उससे अधिक उपलब्ध है। हर अवस्था में अलग प्रजातियों का एक निश्चित अनुपात है और उस अवस्था का उससे पहली और आगे की अवस्था के साथ भी एक निश्चित अनुपात है।

हमारी धरती एक व्यवस्था है। इनको हम निम्नलिखित बिन्दुओं में समझ सकते हैं :

1. धरती की भौगोलिक विभिन्नता का प्रयोजन एक ऐसा वातावरण बनना है जिससे पृथ्वी पर चारों अवस्थाओं की व्यवस्था सुलभ हो जाए।

2. धरती पर चारों अवस्थाऐं – पदार्थ, प्राण, जीव व ज्ञान अवस्था एक निश्चित अनुपात में हैं।

3. इस अनुपात से हमर अवस्था में समृद्धि निश्चित है

4. धरती की सतह पर जल, थल एक निश्चित अनुपात में है।

धरती की व्यवस्था में निश्चित्ता है। हम यह समझते हैं तो स्वयं और पृथ्वी को और समृद्ध करते हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. धरती की सतह पर जल, पहाड़, घाटी, मैदान, जंगल; इन सारी विविधताओं की धरती की व्यवस्था में क्या भूमिका है?
2. पृथ्वी पर जल या थल, इन दोनों में से किसी की भी मात्रा अधिक होती तो क्या होता?
3. पदार्थ, प्राण, जीव और ज्ञान अवस्था में किस प्रकार से निश्चित अनुपात है?

पाठ–5

पदार्थ अवस्था

पिछली कक्षा में हमने पढ़ा कि पृथ्वी पर पदार्थ; ठोस, तरल और विरल के रूप में हमें मिलते हैं। हमने यह भी समझा कि पदार्थ संघठन–विघटन करते हुए – भौतिक और रासायनिक क्रिया करते हैं। अब इसको और गहराई से देखते हैं।

पदार्थ में संगठन–विघटन होने से पदार्थ का विनाश नहीं होता। केवल पदार्थ के रूप, गुण और आचरण में परिवर्तन होता है। इस प्रक्रिया से पदार्थ को हम तीन रूप में समझ सकते हैं – तात्विक, मिश्रण और यौगिक पदार्थ।

तात्विक – वह पदार्थ होते हैं, जो एक जाति के अणु की रचना से बने होते हैं। पृथ्वी पर स्वाभाविक रूप से कई पदार्थ, तात्विक रूप में पाए जाते हैं, जैसे कि लोहा, सोना, चांदी इत्यादि। लोहे में एक प्रकार का अणु ही होता है। इसी प्रकार चांदी भी एक जाति के अणु की संरचना है।

मिश्रण – वह पदार्थ होते हैं, जो कि एक से अधिक प्रकार के तात्विक या रासायनिक पदार्थों का समूह हैं। जैसे कि हमारा वायु मंडल, कई विरल तात्विक पदार्थ का मिश्रण है। यह तात्विक पदार्थ ओक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन डायोक्साइड आदि, या फिर धरती की सतह पर पाई जाने वाली मिट्टी – जो कि सिलिका और अन्य कई रासायनिक पदार्थ का मिश्रण हैं।

यौगिक – वह पदार्थ हैं जो एक से अधिक प्रकार के तात्विक या रासायनिक पदार्थों के अणुओं के बीच रासायनिक क्रिया होने से बनते हैं। इन नए पदार्थ का आचरण रासायनिक क्रिया में भागीदार तात्विक पदार्थों के आचारण से भिन्न होता है। जैसे कि पानी, मिट्टी का तेल; यौगिक पदार्थ हैं। हमारी पृथ्वी पर कई प्रकार के तात्विक, मिश्रित और यौगिक पदार्थ स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं और यह हमारी पृथ्वी की व्यवस्था को बनाए रखते हैं।

आईये अब पदार्थ अवस्था के एक और नियम को समझते हैं।

हम प्रकृति में देखते हैं कि जब वर्षा होती है तो पानी की बूँदे, धरती पर आकर, छोटे–छोटे झरनों और नालों में इकट्ठे हो जाती हैं और फिर वे छोटे–छोटे झरने, नाले सब बहते हुए एक बड़े झरने या नाले में मिल जाते हैं। ये बड़े झरने, नाले जाकर नदियों में मिल जाते हैं और सारी नदियां बहते–बहते आखिर में सागर या महासागरों में मिल जाती हैं। हम देखते हैं कि पानी–पानी के साथ रहता है और यह पदार्थ अवस्था का नियम है।

ऐसे ही, जब लकड़ी में आग लगती है तो उसका धुआँ उठकर ऊपर की ओर जाता है, यानि कि वायु मंडल की ओर। इसी प्रकार जब पानी उबल कर भाप बनता है तो भाप भी ऊपर वायु मंडल की ओर जाती है। विरल पदार्थ अन्य विरल पदार्थ के साथ ही रहता है।

बर्फ बादलों से धरती की ओर गिरती है। फल भी पेड़ से नीचे धरती की ओर ही गिरते हैं। पेड़ के पत्ते, कितने ही हलके हों नीचे धरती पर ही गिरते हैं। ठोस पदार्थ अन्य ठोस पदार्थ के साथ ही रहता है और यह पदार्थ अवस्था का नियम है।

इस प्रकार हमें समझ में आता है कि प्रकृति में स्वाभाविक रूप से पदार्थ, पदार्थ को पहचानता है और इसी पहचानवश ठोस–ठोस के साथ, तरल–तरल के साथ और विरल–विरल के साथ रहता है। यह पदार्थ अवस्था में व्यवस्था है।

पदार्थ अवस्था के बाद की अवस्था है, प्राण अवस्था। हम इसे इस तरह भी देख सकते हैं कि पदार्थ अवस्था की समृद्धि से प्राण अवस्था है। धरती की सतह पर मिट्टी उर्वरक है। ये उर्वरकता प्राण अवस्था के लिए अनुकूल है। इस उर्वरक मिट्टी में अनेक पोषक तत्व हैं जो प्राण अवस्था के लिए सहायक हैं। वायु मंडल की हवा और बादल से बरसता या नदियों में बहता पानी भी प्राण अवस्था के होने में सहायक है। पदार्थ अवस्था का प्राण अवस्था के लिए पूरक होना एक व्यवस्था है।

सार रूप में, इस पाठ में हमने यह समझा कि :

1. पदार्थ तीन स्वरूप में पाया जाता है – ठोस, तरल और विरल।

2. पदार्थ तीन प्रकार के होते है – तात्विक, यौगिक और मिश्रण।

3. पदार्थ अवस्था की हर इकाई, नियमानुसार एक दूसरे को पहचानती है।

इस प्रकार पदार्थ अवस्था एक व्यवस्था है।

अभ्यास व अध्ययन

1. पदार्थ के तीन रूप कौन से हैं?
2. तात्विक पदार्थ किसे कहते हैं? उदाहरणों सहित स्पष्ट कीजिए।
3. मिश्रित पदार्थ किसे कहते हैं? उदाहरणों के साथ बताइए।
4. यौगिक पदार्थ किसे कहते हैं? उदाहरणों के साथ बताइए।
5. तरल, तरल के साथ रहता है; विरल, विरल के साथ रहता है; ठोस के साथ रहता है; ये पदार्थ का नियम है, इसे विस्तार से समझाए।

गतिविधि

(शिक्षक के लिए) अपने घर में या आसपास से कौन से मिश्रित और यौगिक पदार्थों हमें दिखते हैं, इन की एक सूची बनाईये और इन पर चर्चा कीजिए।

पाठ–6

प्राण अवस्था

पेड़–पौधे, घास, लता इनको संयुक्त रूप में हम प्राण अवस्था कहते हैं। पेड़–पौधे धरती पर एवं पानी में पाए जाते हैं। इस प्रकार पेड़–पौधे, आवास के आधार पर, 2 प्रकार के होते हैं।

पेड़–पौधे को और एक प्रकार से पहचानते हैं। ये हैं – वृक्ष, जो बड़े होते हैं; शाक, जो छोटे होते हैं (जैसे घास); लताएँ या बेल, जो वृक्षों पर ऊपर चढ़ती हैं। इसके तने कोमल होते हैं, ये सीधे खड़े नहीं होतें। अतः लताएँ भूमि पर फैलती हैं – आस–पास यदि बड़े वृक्ष हो या झाड़ी हो तो उनके ऊपर भी चढ़ती हैं। जैसे–सेम, लौकी, करेला, कुम्हड़ा की बेल या लता। कुछ पौधे वृक्षों से छोटे होते हैं परन्तु शाक से बड़े होते हैं, इन्हें हम झाड़ी कहते हैं – जैसे नींबू, करौंदा, अनार।

कई पौधे एक ऋतु, एक वर्ष या उससे कम समय तक जीवित रहते हैं। इन्हें एक वर्षीय पौधे कहते हैं, जैसे – धान, गेहूँ, चना, मटर, अरहर आदि। कुछ कई वर्षो तक जीवित रहते हैं जैसे आम, अमरूद, जामुन, बेर। इन्हें बहुवर्षीय कहते हैं।

पेड़–पौधे प्रायः हरे रंग के होते हैं। परन्तु कई पौधें गहरे जामुनी, पीले, लाल आदि रंग के भी होते हैं।

पेड़–पौधे को वनस्पति भी कहते हैं। सभी वनस्पति प्राणावस्था की इकाई होते हैं।

प्राणावस्था की कई प्रजातियाँ होती हैं। इस धरती पर प्राणावस्था की इकाईयाँ अनन्त संख्या में हैं।

प्राणावस्था का आवास पदार्थ अवस्था है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि

पदार्थ अवस्था में जल, स्थल एवं वायु आते हैं। धरती पर पाए जाने वाले अधिकांश पौधे धरती पर उगते हैं, कुछ भाग धरती के भीतर रहता है एवं अधिकांश भाग धरती के ऊपर वायु में रहता है। इस प्रकार धरती एवं वायु इनका आवास स्थली है। कुछ पौधे अन्य पेड़ों पर उगते हैं। वे भी वायु में रहते हैं। उनकी जड़ें पेड़–पौधे के भीतर प्रवेश कर जाती हैं। ये उन्हीं पेड़–पौधे से अपने लिए आवश्यक वस्तुएँ – पोषण के लिए प्राप्त करते हैं।

कई पौधे जल में होते हैं। उनकी जड़ जल के नीचे धरती में रहते हैं, पौधे का कुछ भाग जल के भीतर रहता है एवं कुछ भाग जल के ऊपर तैरता है। कुछ भाग जल के ऊपर भी हो जाता जैसे कमल एवं कुमुदनी।

कुछ पौधे जल में तैरते रहते हैं। कुछ पौधे जल के नीचे उगते हैं एवं ये ऊपर नहीं आ पातें।

प्राणावस्था के 7 मुख्य अंग होते हैं।

1. जड़ 2. तना 3. शाखा 4. पत्ती 5. फूल 6. फल 7. बीज

1. **जड़–** जड़ के कारण वनस्पति किसी एक स्थान पर स्थिर रहती है। एवं इसी के द्वारा पोषण के लिए आवश्यक द्रव्य ग्रहण किया जाता है।

2. **तना–** जड़ के ऊपर का भाग तना कहलाता है। तने से पत्ती एवं शाखाएँ निकलती हैं। वृक्ष या पौधे की पूरी ऊँचाई में तना एक महत्वपूर्ण भाग है।

3. **शाखा–** तने से कई शाखा निकलती हैं। इसे हम डाली भी कहते हैं। शाखा से पत्तीयाँ निकलती हैं। शाखा से ही फूल निकलते हैं।

4. **पत्ती–** पत्ती वनस्पति का प्रधान अंग हैं। पत्तियों की संख्या प्रायः बहुत अधिक होती है। पत्तियाँ वायु में खुली रहती हैं। वायु से पेड़ के लिए आवश्यक द्रव्य पत्तियों द्वारा अवशोषित होते हैं एवं अनावश्यक द्रव्य वायु में छोड़ दिए जाते हैं।

5. **फूल–** फूल; फल एवं बीज का पूर्वरूप होता है। फूल ही आगे जाकर फल मे बदलता है।

6. **फल–** फूल से फल बनता है। फल में बीज तैयार होता है।

7. **बीज**– वनस्पति का बीज, अनुकूल वातावरण को पाकर, अंकुरित होता है। यह अंकुर, पौधा बनता है।

पदार्थ अवस्था एवं प्राण अवस्था में मुख्यतः 4 अंतर होते हैं :

1. **श्वसन** – पदार्थ अवस्था की इकाईयाँ सांस नहीं लेतीं। पेड़–पौधे श्वसन क्रिया करते हैं। यही मुख्य अंतर है।

2. **वृद्धि** – प्राणावस्था की इकाईयों में वृद्धि होती है। कोई पौधा पहले छोटा होता है। बाद में वह बड़ा होता है। इस क्रिया को हम वृद्धि कहते हैं। समय के साथ पौधे में फूल, फल एवं बीज आते हैं। यह भी वृद्धि का ही भाग है। बीज के अंकुरण से पुनः फूल, फल एवं बीज निर्माण की अवधि तक वृद्धि को देखा जाता है। पदार्थ अवस्था में वृद्धि नहीं होती। कोई पत्थर या मिट्टी का टुकड़ा कई–कई वर्षों तक सुरक्षित रखने पर उतना ही बड़ा दिखता है।

3. **बीज–गुणन** – किसी पौधे को एक स्थान पर लगा देने पर उसे यदि अनुकूल वातावरण मिले तो कुछ वर्षो पश्चात कई पौधे दिखने लगते हैं। इसे बीज–गुणन कहते हैं। इसे प्रजनन भी कहते हैं। इसी कारण पौधे की संख्या–वृद्धि होती है।

4. **विरचना** – कोई वनस्पति कुछ समय तक बनी रहती है। इसके पश्चात उसमें श्वसन क्रिया, वृद्धि एवं बीज–गुणन बंद हो जाता है। इस क्रिया को विरचना कहते हैं। इसे मृत्यु भी कहते हैं। सामान्यतः श्वसन क्रिया का बंद होना, विरचना कहलाता है। पदार्थ अवस्था की इकाईयों में मृत्यु घटना नहीं होती है।

प्राणअवस्था का आचरण निश्चित होता है – अर्थात प्राण अवस्था की प्रत्येक इकाई का आचरण निश्चित है। आचरण का अर्थ है – कोई वनस्पति जिस जलवायु में उगती है, हमेशा वैसी ही जलवायु में उगती है। जैसे धान के पौधे का उदाहरण लें। इसमें धान की कोई प्रजाति बरसात के प्रारंभ में जून माह से उगती है। एवं अक्टूबर के अंत में बीज पककर तैयार होता है तब उस पौधे की मृत्यु होती है या विरचना होती है। प्रत्येक वर्ष ठीक उसी जलवायु में उस पौधे की मृत्यु होती है या विरचना होती है। प्रत्येक वर्ष ठीक उसी जलवायु में धान की वह प्रजाति उगती है, उसके पुष्पन का समय भी पहले जैसे होता है, बीज पकने का समय भी वही होता है। बीज–गुणन

भी उतना ही होता है। बीज का आकार, रंग, सुगंध भी पूर्ववत बना रहता है। प्रत्येक बार ऐसा ही बना रहना निश्चित आचरण का द्योतक है। इसे हम व्यवस्था कहते हैं। पदार्थावस्था की सभी इकाईयों का आचरण निश्चित होता है, उसी प्रकार प्रणावस्था के प्रत्येक इकाई का आचरण निश्चित होता है। इसी कारण हम प्राणावस्था की इकाई के साथ निर्वाह करते हैं। उसका आहार के रूप में प्रयोग करते हैं।

प्राणावस्था बीजानुषंगी व्यवस्था है। बीज के अनुसार वृक्ष होता है। वृक्ष में पुनः फूल, फल एवं बीज आते हैं। यह एक चक्र है। यह चक्र बना रहता है – यह व्यवस्था है। बीज के अनुसार ही वृक्ष होता है – यह व्यवस्था है। जैसे नीम के बीज से नीम का ही पौधा एवं वृक्ष बनता है, आम के बीज से आम का। इसी प्रकार प्रत्येक प्रजाति में बीजानुषंगीय व्यवस्था समझ में आती है।

अभ्यास व अध्ययन

1. "प्राणावस्था का आवास पदार्थ अवस्था है" – ऐसे क्यों कहते हैं?
2. प्राणावस्था के कितने मुख्य अंग होते हैं? वह कौन–कौन से हैं?
3. पदार्थ अवस्था व प्राण अवस्था में क्या अंतर है?
4. प्राणावस्था की प्रत्येक इकाई का आचारण निश्चित है – इसका क्या अर्थ है?
5. प्राणावस्था बीजानुषंगी व्यवस्था है – इसे स्पष्ट कीजिए।

गतिविधि

(शिक्षक के लिए) किसी भी पौधे को बच्चों को साथ में लेकर लगाए एवं धीरे–धीरे उसके अंग प्रत्यक्ष देखें।

पाठ–7

जीव अवस्था

जीवावस्था में हर प्रकार के पशु–पक्षी शामिल है। जैसे गाय, भैंस, बैल, ऊँट, घोड़ा, गधा, बाघ, साँप, मछली, बतख, तोता, कोयल, कबूतर, मोर, मैना इत्यादि। जीवों में दो लिंग हैं – नर और मादा। जीवों के अलग–अलग आकार होते हैं और इस आधार पर हम इन्हें पहचानते हैं। हर पशु–पक्षी में श्वसन क्रिया होती है; यह क्रिया शरीर को बनाऐ रखने के लिए निरंतर चलती रहती है। साथ ही, जीव के शरीर की निश्चित आयु होती है। शरीर में वृद्धि होती है। यह वृद्धि प्राणकोशिकाओं की रचना–विरचना क्रिया से सुस्पष्ट होती है। इसी तरह पशु–पक्षियों में श्वसन और रचना–विरचना क्रिया के साथ–साथ प्रजनन क्रिया भी होती है। ये तीनों क्रियाऐं जीवनावस्था के गुण हैं, जिसे मानव पहचानते हैं।

इसके साथ–साथ पशु–पक्षियों का स्वभाव भी हम समझते हैं। पशु–पक्षियों का परस्परता में स्वभाव क्रूर–अक्रूर होता है। कुछ जीव अपने जीने के लिए क्रूरता–वश दूसरे जीवों का शिकार करके उन्हें खाते हैं। इन जीव को माँसाहारी कहते हैं। कुछ जीव अपने आहार के लिए प्राणावस्था में उपलब्ध वनस्पतियों को खाते हैं। यह अक्रूरता, शाकाहारी जीव की पहचान है। इस तरह स्वभाव–अनुसार हमें दो प्रकार के जीव दिखाई देते हैं – माँसाहारी और शाकाहारी।

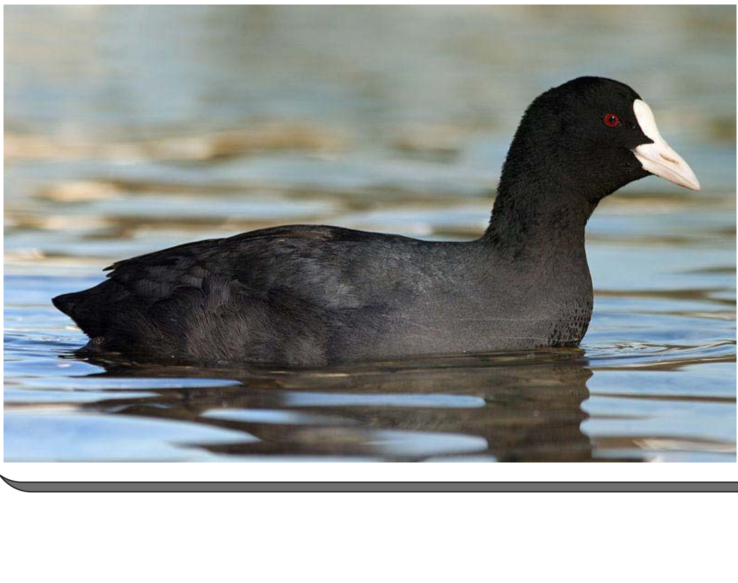

क्रूर–अक्रूर स्वभाव के साथ जीवावस्था का धर्म भी समझ में आता है। जीव जीवित रहना चाहते हैं और जीवित रहने के लिए अपने शरीर के स्वास्थ्य को बनाऐ रखना चाहते हैं। स्वस्थ रहने के लिए वे आहार करते हैं। आहार से वे शरीर को पुष्ट करते हैं। कुछ का शरीर माँस खाकर पुष्ट होता है और कुछ का वनस्पतियाँ खाकर

पुष्ट होता है। जीव अपने भोजन के लिए जंगल में घूमकर दूसरे जीवों का शिकार करते हैं या उपयुक्त वनस्पतियाँ खोजते हैं। इस प्रकार जीवावस्था का धर्म जीने की आशा है जिसे पूरा करने के लिए जीव अपने शरीर को पुष्ट रखता है। इस आशा के अर्थ में ही वह पोषण और प्रजनन क्रिया करता है।

इस तरह जीवावस्था अपने रूप, गुण, स्वभाव और धर्म का संयुक्त रूप है। जीवावस्था की हर इकाई में यह चारों अविभाज्य है। इन्हें हम एक साथ पहचानते हैं तो जीवावस्था को संपूर्णता मे समझते हैं। जीवावस्था में जीने की चाह है और उसको पूरा करने के लिए वह निश्चित आहार करता है। जीव अपना आहार पहचानता है। आहार कब करना है, कितनी मात्रा में करना है, किसका करना है; यह सब शरीर–अनुसार है। जीवावस्था में हर इकाई का आचरण अपने शरीर को जीवित बनाए रखने के प्रयोजन से होता है। जीवावस्था में पोषण और प्रजनन क्रिया भी होती है। ये क्रियाएँ उनके वंश की निरंतरता को बनाए रखने के अर्थ में है। अर्थात् जीवावस्था अपने शरीर–अनुसार संचालित है। जैसे गाय अपने शरीर को बनाऐ रखने को प्राथमिकता देती है और अपनी अधिक ऊर्जा घास ऐकत्रित करने में, खाने में और पचाने में लगाती है।

मानव गाय–बैल पालते हैं। उनके लिए पशु–घर बनाते हैं और उन्हें चारा देते हैं। मानव की परस्पतर में, ये पशु मानव के संकेतों को पहचानते हैं और उनको अपना पोषक–संरक्षक मान, अपने को सुरक्षित महसूस करते हैं। यह उनमें मानने की क्रिया है। मानने की क्रिया, जीवन में होती है।

मानव पशु को अपने कृषि–कार्यों में प्रयोग करते हैं। मानव के प्रशिक्षण अनुसार वे कार्य करते हैं। इसलिए मानव के हल चलाते समय, बैल मानव के इशारों अनुसार दायें–बायें चलता है।

अतः मानना, पहचानना, निर्वाह करना जीवावस्था में निश्चित क्रियाऐं हैं। इस आधार पर उनका आहार भी निश्चित है। साथ ही, जैसे हमने पहले चर्चा कि की जीवावस्था अपने में एक व्यवस्था है। स्वयं में व्यवस्था होना ही इसका धर्म है। स्वयं में व्यवस्था होने से अपने से बड़ी व्यवस्था में भागीदार होना स्वाभाविक है। जीवावस्था के स्वभाव से उसकी व्यवस्था में भागीदारी सुनिश्चित होती है। अर्थात् उसके शाकहारी या माँसाहारी होने से उसकी भागीदारी समझ में आती है।

माँसाहारी जब मरे हुए जीव–शरीर को खाता है तो जीव–शरीर के विरचना में गति प्रदान

होती है। शरीर के जल्दी विरचित होने से उसमें कीटाणु नहीं पलते हैं और वातावरण रोग से रहित रहता है। इसी तरह शाकाहारी जीव मानव के लिए पूरक हैं। मानव गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी जैसे शाकाहारी जीव को पालते हैं और उसका कृषि, आहार, अलंकार इत्यादि में उपयोग करते हैं। जैसे बैल का हल चलाने में उपयोग करते हैं, गाय से गेहूँ की मिंजाई करते हैं, गाय का दूध पीते हैं, भेड़ से ऊन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जीवावस्था ज्ञानावस्था की व्यवस्था में भागीदार है।

जीवावस्था ज्ञानावस्था के साथ–साथ पदार्थावस्था और प्राणावस्था के भी पूरक है। जीवावस्था की इकाई के मल–मूत्र से और उसके शरीर के विरचना से पदार्थवस्था में मिट्टी संवर्धित होती है। उर्वरक मिट्टी से प्राणावस्था भी पोषित होती है। इसलिए जीवावस्था स्वयं में व्यवस्था होने से बाकि अवस्थाओं के साथ भी व्यवस्थापूर्वक जीता है।

अभ्यास व अध्ययन

1. जीवावस्था का स्वभाव व धर्म क्या है?
2. जीवावस्था अपने शरीर–अनुसार कैसे संचालित है?
3. जीवावस्था, ज्ञानावस्था की व्यवस्था में किस तरह भागीदार है?
4. जीवावस्था, पदार्थावस्था और प्राणावस्था के साथ भी कैसे पूरक है?

पाठ–8

ज्ञान–अवस्था

हम मानव, ज्ञानावस्था की इकाई है। हम सभी में समझने की क्षमता है और समझ कर स्वीकारना हम सभी मानव के लिए सहज है। इस तरह, इन दो बिंदु में मानव, अन्य अवस्था की हर इकाई से भिन्न है

1. मानव, में समझने की क्षमता है

2. हर मानव, समझ कर सहज स्वीकारता है और इस क्रम में पहचानता और निर्वाह करता है

इस तथ्य को स्पष्टता से देखने के लिए, हम एक उदाहरण को जांच सकते हैं। हम सभी मानव, अन्रू मानव के साथ सम्बन्ध पूर्वक जीने को स्वीकारते हैं। हम सभी मानव, परिवार में अपने सम्बन्धियों के साथ जीतें भी है। परन्तु, इसके बाद भी हमारे आपस में मन मुटाव और मतभेद होते हैं और हम सम्बन्ध पूर्वक जीने में हमे श्रम करना पड़ता है। जब हम यह समझते है की सम्बन्ध ा का भाव, हम सभी मानव के लिए सहज है और हमारे 'होने' की व्यवस्था पर आश्रित है, तो हम विश्राम पूर्वक सम्बन्ध के भाव के साथ जीने लगते हैं और सम्बन्ध में जीना हमारे लिए सहज हो जाता है। इस प्रकार, समझने से हमारी स्वीकृति में संकल्प और सपष्टता आती है और हम अपने चारों ओर अपनी परिस्थिति को सम्बन्ध के साथ पहचानते हैं और उन परिस्थितियों में भागीदारी करते हैं। समझकर स्वीकारना, पहचानना और निर्वाह करना, हम सभी मानव के लिए सहज और अनिवार्य है।

मानव का पूरा स्वरूप, शरीर इकाई और जीवन इकाई के सह अस्तित्व के फलस्वरूप है। हमारा शरीर, भौतिक और रासायनिक क्रिया की उत्कृष्ट रचना है, जो की जीवन के सह अस्तित्व में, इस पृथ्वी पर रचित हुई है। जीवन, अर्थात हमारी चैतन्यता, भी शरीर सापेक्ष, अपनी क्षमता को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार, हम मानव को, शरीर और जीवन के सह अस्तित्व में समझते है और इस प्रकार मानव को ज्ञानावस्था की इकाई के रूप में स्वीकारते हैं और अपने जीने में, स्वयं को और हर मानव को इस अर्थ के साथ पहचानते हैं और उनके साथ क्रिया कलाप (अर्थात

निर्वाह) करते हैं।

(अपने मनाकर को साकार करने वाला और मन स्वस्थता को प्रमाणित करने वाला को मानव कहते है)। यह मानव का, शरीर और जीवन के सह अस्तित्व में, अर्थ है, जिसको हम समझकर स्वीकार सकते हैं।

हम सभी मानव अपनी शरीर की आवश्यकता को पूरा करने में सक्षम है और उसके लिए हम प्रयास करते हैं। शरीर की आवश्यकता, भौतिक साधन के साथ पूरी होती है। शिशुकाल, बाल्य–अवस्था और युवावस्था में हमारे माता–पिता, हमारे शरीर के पोषण और संगरक्षण के लिए साधन, हमें उपलब्ध ा कराते हैं। शारीरिक रूप से सक्षम होने के साथ–साथ शिक्षा संस्कार पूरा होने पर हम स्वयं का और अपने परिवार की भौतिक साधन की आवश्यकता को पूरा करने में तत्पर होते हैं। इस प्रकार, अपने परिवार में भौतिक साधन की आवश्यकता को पूरा करने में हम मानव, अपने मनाकर को साकार करते हैं। यह 'मनाकर को साकार' करने का अर्थ है। 'मानकर को साकार' करने के साथ–साथ, हम मानव, अपने विचारों में निरंतर संगीतमयता भी चाहते हैं। हर क्षण, क्लेश और विरोध मुक्त होकर, हम अपने इच्छा, विचार और आशाओं में तालमेल की स्थिति की अपेक्षा रखते हैं। यह 'मन–स्वस्थता' है, जो हममें से हरेक मानव, की अभिलाषा है और इसके लिए भी हम निरंतर प्रयासरत रहते हैं। इस प्रकार सह अस्तित्व में मानव को हम 'मानकार को साकार और मन स्वस्थता को प्रमाणित' करने में प्रयासरत इकाई के स्वरूप में स्वीकारते हैं। इस प्रकार 'मानव' शब्द का अर्थ इन दो बिंदु के रूप में हम समझ सकते हैं :

1. मनाकर को साकार करने की तत्परता के साथ

2. मन स्वस्थता की चाहना के साथ

ज्ञानावस्था की इकाई, मानव, अपनी इस अर्थ को सिद्ध करने के लिए अपनी कल्पनाशीलता

और कर्म स्वतंत्रता की क्षमता का उपयोग करता है। हम सभी मानव, इस क्षमता के साथ है। 'कल्पनाशीलता का अर्थ है – वास्तविकताओं को ग्रहण करने की क्षमता। उदाहरण के लिए जैसे हम सम्बन्ध में मूल्य जैसे विश्वास, सम्मान, स्नेह का भास, आभास होने लगता है, हमें स्वयं में सुख, शांति, संतोष जैसे मूल्य या भाव का भास्, आभास होने लगता है और इसकी निरंतरता के लिए हम प्रयासरत होते हैं। हर मानव 'कल्पनाशील' है। इसके साथ–साथ हम सभी, कर्म करने में भी स्वतंत्र है अर्थात कार्य करने में, बोलने में और विचार करने में हमें पूरा स्व–नियंत्रण उपलब्ध है। कर्म स्वतंत्रता की यह क्षमता हर मानव में है।

हम मानव, अपने 'मानकार को साकार' और 'मन स्वस्थता को प्रमाणित' करने के लिए अपनी कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता का उपयोग करते है। अर्थ और वास्तविकताओं को समझकर, हम मानव उन्हें सहज रूप से स्वीकार कर सकते हैं।

समझने और जीने में हमारा शरीर हमारे लिए अत्यंत उपयोगी है। ज्ञान–इन्द्रियों और कर्म इन्द्रियों के साथ हम समझते हैं और जीतें हैं। मानव शरीर की रचना एक समृद्ध मेधस के साथ है। मेधस से संचालित, ज्ञान–इन्द्रियों और कर्म–इन्द्रियों सहित, मानव की शारीरिक प्रणाली का, हमारे जीवन के 'मन स्वस्थता के लक्ष्य' को पूरा करने में महत्त्वपूर्ण उपयोग है और जीवन के लक्ष्य की पूर्ति के लिए अनिवार्य भी है। अपने परस्परता को ठीक–ठीक पहचानने में ग्यानिन्द्रियों अत्यंत उपयोगी हैं और हमारे लिए सूचना का माध्यम है। कर्म–इन्द्रियों के साथ, हम, हर प्रकार के कार्य कर पातें हैं और अपने शरीर को गति दे पातें हैं। इस प्रकार, ज्ञान अवस्था में स्थित, मानव इकाई, अपने मन स्वस्थता के लक्ष्य को, कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता की क्षमता से, शरीर के उपयोग पूर्वक पूरा करता है।

जीवन, एक चैतन्य प्रणाली है अर्थात समझने और स्वीकारने जैसी सूक्ष्म क्रियाओं के साथ है। मन स्वस्थता का लक्ष्य, कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता की क्षमता, जीवन की है। शरीर, भौतिक रासायनिक प्रणाली है और यांत्रिक क्रियाओं में सक्षम है। जीवन और शरीर का सह अस्तित्व, ही मानव स्वरूप है।

इस पाठ में हमने, ज्ञानावस्था की इकाई, मानव को समझने के लिए, अध्ययन किया। समझना, मानव की एक सहज चाहना है और जिसके आश्रय उसकी स्वीकृति में संकल्प और

स्पष्टता हो पाती है। 'मन स्वस्थता को प्रमाणित करना' ही हम सभी, मानव, का सहज प्रयोजन है और इसके लिए हम अपनी कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता का पूरा उपयोग करते हैं। कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता की क्षमता पूर्वक हम वास्तविकताओं को ग्रहण करते हैं और उन्हें अपने जीने में प्रमाणित करते हैं। वास्तविकताओं को ग्रहण करने में और उन्हें प्रमाणित करने में हमें ज्ञान–इन्द्रियों का और कर्म इन्द्रियों की आवश्यकता होती है, जो की हमारे शरीर से सहज उपलब्ध है। ज्ञान–इन्द्रियाँ और कर्म–इन्द्रियों के साथ, हम अपने परिवेश और वातावरण को पहचान पातें हैं और उन्हें उपयुक्त गति और परिणाम देते हैं। इस प्रकार, मानव, जीवन और शरीर के सह अस्तित्व में निरंतर सुख पूर्वक रह पाता है।

अभ्यास और अध्ययन

1. चारों अवस्थाओं के साथ हम पूरक कैसे होते है?
2. हर मानव की कौन–कौन सी आवश्यकताएँ है?
3. ज्ञानावस्था और जीवावस्था में क्या अंतर है?

पाठ–9

मानव संचेतना

अभी तक हमने यह समझा कि मानव जीवन और शरीर का सह–अस्तित्व है। हर आयु के, लिंग के, देश के, काल में – मानव हर पल जीवन और शरीर का सम्मिलित प्रदर्शन है। जीवन को हम – 'मैं या चैतन्य' की संज्ञा भी देते हैं। शरीर को जड़ वस्तु के रूप में पहचानते हैं।

मानव का शरीर कई स्वयं स्फूर्त क्रियाओं की सम्मिलित व्यवस्था है – जिसमें सांस लेना, भोजन पचना, खून बनना, मल–मूत्र विसर्जित होना जैसी क्रियाएँ बिना जीवन के निर्देश के चालित हैं। अर्थात इनको चलाने में हमें कोई इच्छा या विचार नहीं करना पड़ता।

मानव में 'मैं' के भाव को हम जीवन कहते हैं और जितनी भी क्रिया हम जानबूझकर करते हैं – उनकी ज़िम्मेदारी 'मैं' या जीवन लेता है। हम कुछ खाते हैं तो बूझ कर खाते हैं, बोलते हैं वह जानबूझ कर बोलते हैं, ध्यान देते हैं तो जानबूझ कर ध्यान देते हैं और यह बूझने वाले को 'जीवन' या 'मैं' कहते हैं।

शरीर भौतिक–रासायनिक क्रिया है और उसमें भौतिक रासायनिक प्रक्रिया के रूप में सांस लेना, भोजन पचना, खून बनना आदि होता रहता है। इसके विपरीत, जीवन कुछ मान लेता है, या जान लेता है तो उसमें कोई भौतिक–रासायनिक क्रिया नहीं होती। जीवन, चैतन्य इकाई है और जड़ इकाई की तरह कोई भौतिक–रासायनिक वस्तु नहीं है। इसलिए जीवन में क्रिया को हम चैतन्य क्रिया या जीवन–क्रिया का नाम देते हैं।

शरीर व्यवस्था बने रहने के लिए – भोजन की आवश्यकता रहती है। इसलिए मानव भोजन करते हैं, शरीर के लिए औषधि आदि का प्रयोग करते हैं। जीवन की क्रिया हर पल बनी रहती है और उसको बनाए रखने के लिए भोजन की आवश्यकता नहीं है। इच्छा, विचार करने की शक्ति, भोजन करने या न करने से घट या बढ़ नहीं जाती। इस प्रकार जीवन क्रिया – अक्षय है।

शरीर को पोषण की आवश्यकता है। पौष्टिक भोजन, स्वच्छ जल, शुद्ध हवा, ठंडी, गर्मी इत्यादि के अनुसार शरीर अपनी व्यवस्था में रहता है। ऐसा करने पर शरीर पुष्ट होता है अर्थात स्वस्थ और प्रबल होता है। पोषण – भोजन के रूप में, पानी के रूप में; सर्दी–गर्मी से बचने के लिए कपड़े और घर के रूप में है। पोषण की हर वस्तु भौतिक–रासायनिक है और यह शरीर के साधन और आवश्यकताएँ हैं। लेकिन शरीर को हर वक्त भोजन नहीं चाहिए। भोजन की आवश्यकता समय–समय पर होती है और पचा हुआ भोजन मल–मूत्र के रूप में शरीर से विधिवत निष्कासित होता है। सांस भी हम सिर्फ अंदर नहीं लेतें। श्वसन क्रिया में सांस हम अंदर लेते हैं और फिर बाहर छोड़ते हैं। शरीर की आवश्यकता सामयिक है अर्थात समय–समय पर होती है और एक निश्चित मात्रा में होती है।

सभी मानव सुख चाहते हैं। यह चाहना – शरीर नहीं अपितु 'मैं' चाहता है। जब कभी भी हम अपने को सुखी महसूस करते हैं – तब यह सुख शरीर नहीं अपितु 'मैं' महसूस करता है। इस प्रकार जीवन या 'मैं' सुख चाहता है। जैसे अपने किसी मित्र को मिले और खुश हुए – तो शरीर नहीं अपितु जीवन सुखी होता है। सुखी कैसे होंगे – यह बात भी शरीर नहीं अपितु जीवन को समझ में आता हैं। इस प्रकार जीवन सुख चाहता है, सुख को समझने की क्षमता रखता है और सुख से तृप्त होता है। सभी मानव हर पल सुखी रहना चाहते हैं। हम किसी भी पल दुःख नहीं चाहते हैं। इस प्रकार मानव को सुख की आवश्यकता निरंतर है – यानि हर पल है। इसके साथ–साथ सुख की कोई मात्रा नहीं होती – सुख से सिर्फ तृप्ति होती है।

अतः जीवन की आवश्यकता 'सुख' की है और शरीर की आवश्यकता 'पोषण और संरक्षण' की है।

जीवन एक चैतन्य इकाई है। जड़ इकाई की तरह मानव भी पहचानकर निर्वाह करते हैं। परंतु मानव जड़ इकाई की तरह नियम के आधार पर पहचानते, निर्वाह नहीं करतें बल्कि जानकर और मान कर पहचानते हैं और संबंध का निर्वाह करते हैं। शरीर को पोषण के लिए उपयुक्त भोजन पहचानता है। उसको भोजन मानते हैं और फिर खाते हैं। शरीर में जानने (समझने) और मानने की शक्ति नहीं है क्योंकि शरीर जड़ है और यह हर वस्तु को भौतिक–रासायनिक नियम के अनुसार पहचानता है और निर्वाह करता है। जीवन में जानने और मानने के आधार पर पहचानने की और निर्वाह करने की शक्ति है।

मानव, शरीर और जीवन की एक संगीतमय व्यवस्था है। जीवन शरीर को नियंत्रित करता है। शरीर से कई तरह की संवेदना जीवन को सूचना के रूप में मिलती है। जैसे आँखों से बाहरी वस्तु दिखती है, कान से आवाज़ सुनाई देती है, नाक से गंध आती है, जीभ से स्वाद मिलता है और त्वचा से स्पर्श । रूप, शब्द, गंध, स्वाद और स्पर्श – ये पाँचो संवेदनाएँ, सूचनाएँ हैं जो शरीर के द्वारा जीवन को मिलती हैं। यह संवेदनाएँ मेधस द्वारा जीवन तक पहुँचती है और जीवन अपनी समझ के अनुसार इन संवेदनाओं के मिलने पर क्या करना है या नहीं करना है, यह निश्चित करता है।

मानव शरीर की व्यवस्था बनाए रखने के लिए कार्यरत भी रहते हैं। शरीर के लिए उपयुक्त और पौष्टिक भोजन उपलब्ध कराते हैं। गर्मी, सर्दी और ऋतु के बदलते प्रभाव से मानव अपने शरीर को बचाए रखते हैं। कार्य करके, व्यायाम करके अपने शरीर को चुस्त बनाए रखते हैं। अर्थात् मानव अपनी समझ से अपने शरीर का पोषण और संरक्षण करते हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. शरीर और जीवन में क्या भेद हैं?
2. शरीर की क्या–क्या आवश्यकताएँ हैं?
3. जीवन की क्या–क्या आवश्यकताएँ हैं?
4. पहचानने, निर्वाह करने की क्रिया को स्पष्ट कीजिए।
5. जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने की क्रिया को स्पष्ट कीजिए।

पाठ–10

परिवार व्यवस्था

मानव सुखपूर्वक जीना चाहते हैं। यही प्रत्येक मानव का धर्म है। सुखपूर्वक जीने के लिए सबसे छोटी इकाई परिवार है। मानवीय परंपरा में परिवार एक समझदार व्यक्तियों के समूह को कहते हैं। इस समूह में न्यूनतम तीन पीढ़ी, हर लिंग और हर आयु के लोग एक साथ रहते हैं। मानव के संबंधों की पहचान और मूल्यों का निर्वाह परिवार से शुरू होता है। मानव का अधिकतर समय अपने परिवार के साथ बीतता है। इसलिए समझदार होने का प्रमाण सबसे पहले परिवार में ही दिखता है। परिवार में मानव समझना शुरू करता है और समझकर जीता है और प्रमाणित होता है।

प्रमाणित होने के लिए कम से कम दो समझदार व्यक्तियों की आवश्यकता होती है क्योंकि अस्तित्व में सभी इकाइयाँ सह–अस्तित्वपूर्वक हैं – यानि कि वे साथ–साथ हैं। एक परमाणु के अस्तित्व के लिए भी न्यूनतम दो परमाणु अंश का सह–अस्तित्व आवश्यक है। इसी तरह मानव आपस में संबंधपूर्वक जीकर ही अपनी समझदारी को प्रमाणित करते हैं और उभय तृप्त होते हैं।

जागृत मानव अपने अर्थात् मानव लक्ष्य की पूर्ति का प्रारंभिक स्वरूप परिवार में समाधान, समृद्धि के अर्थ में प्रमाणित करता है। समाधान का तात्पर्य सही समझ अर्थात वास्तविकता की पहचान है। स्वयं में समाधानित होने पर मानव अपने आप को जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में पहचान पाता है। अर्थात् वह जीवन और शरीर की आवश्यकताएँ सुनिश्चित कर पाता है। जिसमें शरीर की आवश्यकता पोषण–संरक्षण के लिए है और जीवन की आवश्यकता निरंतर सुखपूर्वक जीने के लिए है। दोनों की आवश्यकता निश्चित और सीमित है, यह समाधानित व्यक्ति समझता है।

जीवन की आवश्यकता (संबंध पहचानना, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन, उभय तृप्ति) की पूर्ति से समाधानित मानव सुखी होता है और शरीर की आवश्यकता (आहार, आवास, अलंकार) की पूर्ति से समृद्धि का अनुभव करता है।

समृद्धि में यह भाव और आश्वस्ति है कि मानव अपने परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर सकता है। अर्थात् परिवार की (शरीर की) आवश्यकता की पूर्ति के बाद भी उसके पास दूसरे के साथ बाँटने के लिए पर्याप्त वस्तु बचती है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन का कुटुंब में या अनेक कुटुंब (समाज) में विनिमय होता है। पहले वस्तुओं का परिवार में उपयोग होता है और फिर समाज में उनका सदुपयोग होता है। भौतिक वस्तुओं के उपयोग और सदुपयोग के मूल में उनका प्रयोजन है। समझदार मानव वस्तुओं का प्रयोजन पहचानता है और इसी लिए उनका परिवार में उपयोग और समाज में सदुपयोग कर पाता है। जैसे कि गाड़ी का प्रयोजन है कि मानव एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा पाता है, जहाँ वह बिना शरीर को कष्ट पहुँचाएँ, चलकर नहीं जा सकता। प्रयोजन समझने पर जागृत मानव गाड़ी का सही अर्थ में उपयोग करता है। अन्यथा, अजागृत मानव गाड़ी जैसी भौतिक वस्तु से स्वयं (जीवन) को तृप्त करना और दूसरे से सम्मान पाना चाहता है।

इसलिए प्रयोजन समझते हैं तो यह दिखता है कि शरीर की आवश्यकताएँ सीमित है, अतः भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता भी सीमित है। इसलिए पहले मानव स्वयं समाधानित होता है और फिर समृद्धि के भाव को समझता है।

मानव परिवार में जीता है, इसलिए शरीर की आवश्यकताऐं भी परिवार के स्तर पर सुनिश्चित करता है। आवश्यकताऐं सुनिश्चित होने पर वह श्रम पूर्वक प्राकृतिक ऐश्वर्य पर आवश्यकता से अधिक उत्पादन करता है। जैसे कृषि से अनाज, सब्ज़ी, इत्यादि; गौपालन से दूध; दूध से दही, घी; पेड़–पौधें से औषधि का उत्पादन करता है।

मानव को श्रम की प्रेरणा परिवार में मिलती है और वह उसमें अपनी भागीदारी भी तय करता है। उदाहरण के लिए मानव जागृत परिवार में अपने बड़े भाई–बहन, माता–पिता, चाचा–चाची को श्रम करते हुए देखता है, जिसमें कुछ कृषि का कार्य, कुछ गौपालन का कार्य, कुछ औषधि का कार्य करते हैं। साथ ही, परिवार के कुछ सदस्य सेवा के रूप में श्रम करते हैं जैसे – खाना बनाना, कपड़े धोना, सफाई करना, गाड़ी–साईकल ठीक करना, कपड़े सीलने, मालिश करना। छोटे बच्चे और बुज़ुर्ग उत्पादन–कार्य में भागीदार नहीं होते पर परिवार के बने रहने में अपनी भागीदारी करते है। दादा–दादी, नाना–नानी परिवार में छोटे बच्चों को बोलना–चलना सिखाते हैं और छोटे बच्चे परिवार में खुशहाली का वातावरण बनाऐं रखते हैं। इस तरह परिवार के कुछ

सदस्य श्रम से उत्पादन करते हैं, कुछ श्रमपूर्वक सेवा करते हैं और कुछ जो शरीर की अक्षमता के कारण श्रम नहीं कर सकते वे अन्य कार्यक्रमों में अपनी भागीदारी करतें हैं।

श्रमपूर्वक उत्पादन करना, परिवार की समृद्धि के लिए अनिवार्य है। साथ ही, परिवार समूह में मानव–मानव के संबंध प्रधान वस्तु हैं। इसलिए किसी सदस्य का शरीर अस्वस्थ होने पर परिवार अपना ध्यान उसके शरीर को स्वस्थ बनाने में लगाता है और बीमार व्यक्ति से श्रम की अपेक्षा नहीं रखता है। बाकि सदस्य उसका काम आपस में संभाल लेते हैं। मानव परिवार में संतुष्टि के लिए जीता है। जागृत अथवा समाधानित मानव संबंधों में जीता है और संतुष्ट रहता है।

सेवा में मानव शरीर या अन्य भौतिक, भौतिक–रसायनिक वस्तुओं (या यंत्रों) को सुरक्षित रखना और उनको बेहतर करने का कार्य है।

अभ्यास व अध्याय

1. परिवार किसे कहते हैं?
2. हमारी परिवार में क्या भागीदारी है?
3. भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता का सही आंकलन हम कब कर पाते हैं?
4. हम श्रम क्यों करते है?

गतिविधि

(शिक्षक के लिए) छात्रों के साथ चर्चा करें कि वे परिवार के लिए क्या करते हैं, कितना श्रम करते हैं?

पाठ–11

मानव–संबंध

पूर्णता के अर्थ में अनुबंध की संबंध संज्ञा है। पूर्णता अर्थात समाधान। स्वयं में समाधान की स्थिति होना और दूसरे के साथ न्याय की निरंतरता में जीने का संकल्प व प्रमाण संबंध है। सभी संबंधों की पहचान उद्देश्य सहित होती है। स्वयं में समाधान, परिवार में समृद्धि, समाज में अभय, अस्तित्व में सह–अस्तित्व सहित जीना ही संबंधों का उद्देश्य है। अतः संबंधों का फैलाव परिवार से लेकर पूरे अस्तित्व तक होता है।

मानव जन्म से परिवार के सदस्यों के बीच जीता है जैसे दादा–दादी, माता–पिता, चाचा–चाची, भाई–बहन। वह इन सभी के साथ मानवीयता में जीने की अपेक्षा रखता है। अपेक्षा की आपूर्ति में दुःख का अनुभव करता है। सड़क पर कोई लड़ाई–झगड़ा देखने पर या अख़बार में बुरी ख़बर पढ़ने पर भी मानव पीड़ित होता है क्योंकि उसे समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए मानवीयता स्वीकृत होती है न कि अमानवीयता। अर्थात सभी के साथ संबंधपूर्वक जी पाना मानव की मूल अपेक्षा और आवश्यकता है।

जागृत मानव मानवीयता में जीता है अर्थात सभी के साथ अपना पूरकता के अर्थ में संबंध पहचानता है। वह संबंधों में अपनी भागीदारी पहचान कर उनमें सफलतापूर्वक जी पाता है। सफलतापूर्वक जीना अर्थात संबंध में मूल्यों के निर्वाह से दोनों पक्ष का तृप्त होना।

अजागृत मानव में संबंधों की स्वीकृति और उनमें मूल्यों का निर्वाह, अपेक्षा के रूप में बना रहता है। इन मूल अपेक्षाओं की सही पहचान और इनका निर्वाह न हो पाना ही उसे पीड़ित करता है। अपितु, जागृत मानव में संबंधों की पूर्ण स्वीकृति और उनमें निहित मूल्यों और भागीदारी का निर्वाह निश्चित होता है। यह निश्चितता जागृत मानव के संबंधों में तृप्ति का स्रोत होती है।

मानवीयता–युक्त जागृत मानव में सात प्रकार के निश्चित संबंध हैं:

1. माता–पिता–पुत्र–पुत्री

2. भाई–बहन
3. मित्र–मित्र
4. गुरु–शिष्य
5. साथी–सहयोगी
6. पति–पत्नी
7. व्यवस्थागत संबंधः व्यवस्था में परस्पर मित्र, भाई और बहन

जागृत मानव इन्हीं सात संबंधों में अन्य जागृत मानव के साथ जीता है। इन संबंधों से कम में जीने पर मानव अतृप्त होता है। इससे अधिक मानव का दूसरे मानव के साथ कोई संबंध होता नहीं हैं।

उपरोक्त अनुसार हम मुख्यतः दो प्रकार के संबंध पहचानते हैं – पारिवारिक एवं सामाजिक संबंध। माता–पिता–संतान, भाई–बहन, पति–पत्नी संबंध पारिवारिक संबंध हैं। मित्र, गुरु–शिष्य, साथी–सहयोगी, व्यवस्था संबंध अधिकतर परिवार के बाहर अथवा गाँव या समाज के स्तर के संबंध है।

इन सभी संबंधों को जागृत मानव सहजता से पहचानता है, इनमें ज़िम्मेदारीपूर्वक अपनी भागीदारी करता है और इनमें मूल्यों के निर्वाह से तृप्त होता है। जैसे जागृत माता–पिता अपने पुत्र–पुत्री के साथ संबंध पहचानते हैं, उनकी परवरिश के लिए ज़िम्मेदार होते हैं और इस ज़िम्मेदारी के निर्वाह से स्वयं में ममत्व भाव का अनुभव कर तृप्त होते हैं। अर्थात संबंध एक क्रिया है – इसमें निहित भागीदारी और मूल्यों का निर्वाह ही इसकी स्वीकृति का प्रमाण है।

पारिवारिक संबंधों में एक मुख्य संबंध माँ और शिशु का दिखता है। माँ, शिशु को पोषण प्रदान करती है। अर्थात वह शिशु के साथ अपना संबंध स्वीकारती है। पोषण क्रिया की पूर्ति शरीर की व्यवस्था एवं स्वास्थ्य की समझ से ही संभव है। माँ और परिवार के अन्य सदस्यों का स्वयं स्वस्थ होने से और अपने शरीर के प्रति ज़िम्मेदार होने से शिशु में अपने शरीर के प्रति सतर्कता बनी रहती है। इसलिए समझदार माँ जागृत परिवार के सहयोग से अपने संतान के पोषण का पूर्ण रूप

से ध्यान रखने की क्षमता रखती है। जागृत माँ तब तक संतान के पोषण का ध्यान रखती है जब तक संतान पोषण को समझता है, स्वीकारता है और स्वयं अपने शरीर की रक्षा कर पाता है, व्यवसाय में स्वावलंबी होता है और दूसरे का पोषण करने के लिए सक्षम होता है।

माँ, संतान की शारीरिक और मानसिक स्वस्थता दोनों का ध्यान रखती है। शिशु के शरीर को आहार, विहार, सेवा से पोषित करने के साथ–साथ संतान को शैशवावस्था से विश्वासपूर्ण वातावरण मिलना, उसमें बाल्यावस्था से अपने शरीर के स्वास्थ्य की ज़िम्मेदारी स्वीकारने की मानसिकता बनना; यह जागृत माँ अपने संतान के लिए सुनिश्चित करती है।

प्रारंभिक वर्ष में शिशु का अधिकतर समय माँ के साथ बीतता है। इसलिए माँ अपने संतान की स्वीकृत मानसिकता का प्रमुख स्त्रोत होती है। अर्थात शिशु की भाषा, बोली, खान–पान, रहन–सहन का स्रोत माँ ही है। जागृत माँ स्वयं विश्वासपूर्वक जीती है और संतान में भाषा, आहार, विहार, अलंकार के प्रति विश्वास स्थापित करती है। अर्थात माँ के संपर्क में रहते हुए शिशु भाषा, खान–पान इत्यादि के साथ पूरकता का संबंध पहचानने लगता है और इस पूरकता से उनके प्रति आश्वस्त भी होता है। आश्वस्त होने पर ही वह उन का सही उपयोग कर पाता है। जैसे आहार को शरीर के पोषण के अर्थ में स्वीकारता है, वस्त्र का शरीर के संरक्षण के अर्थ में उपयोग करता है।

संबंधों की पहचान और संबंधों के आधार पर संबोधन भी शिशु माँ से समझता है। जागृत माँ का स्वयं संबंधों और संबोधन में विश्वास होने से शिशु भी उनमें विश्वास करता है। संबोधन संबंध के अर्थ अथवा भाव को इंगित करता है। अर्थात जागृत माँ अपने माता–पिता, भाई–बहन, मित्रों, संतान के प्रति निरंतर विश्वास, सम्मान और स्नेह के भाव में जीती है। शिशु, माँ से प्रेरित होकर, उन्हीं भाव से अपने माता–पिता, भाई–बहन, मित्रों को संबोधित करता है। अजागृत माँ स्वयं भाव की अनिश्चितता में जीती है, अतः शिशु में भाव स्थापित करने में अपने को अक्षम पाती है। इसीलिए माँ का स्वयं समझदार होना, शिशु की जागृत के लिए एक अनिवार्यता है।

गर्भावस्था से ही माँ शिशु को पोषण प्रदान करती है। इसलिए यह माँ की प्रमुख ज़िम्मेदारी होना सहज है। इसके साथ–साथ माँ शिशु के शरीर के प्रति भी सजग रहती है। अतः माँ का शिशु के साथ पोषण–प्रधान संरक्षण का संबंध है। मानवीय व्यवस्था में पोषण–प्रधान संरक्षण प्रदान करने वाले मानव को माता अथवा माँ के नाम से संबोधित किया जाता है।

माँ के अतिरिक्त पिता का भी शिशु के साथ एक महत्वपूर्ण संबंध है। जागृत पिता का संतान के साथ संरक्षण–प्रधान पोषण का संबंध है। शिशु के शरीर की स्वस्थता के लिए आहार, आवास और अलंकार उपलब्ध कराना, समझदार पिता का संरक्षण–प्रधान पोषण कार्य है। शिशु के शरीर के लिए अनुकूल वस्त्र उसे पहनाना, अधिक ठंड और गर्मी से उसके शरीर को सुरक्षित रखने के लिए उपयुक्त घर बनाना, शरीर की व्यवस्था बनाये रखने के लिए सही आहार का उत्पादन करना इत्यादि। साथ ही, शिशु को मानवीयतापूर्ण वातावरण मिले और वह अमानवीयता से सुरक्षित रहे, इसके लिए जागृत पिता का शिशु के लिए शिक्षा का अवसर उपलब्ध कराना और उसे श्रेष्ठ व्यक्तियों से मिलाना स्वाभाविक है। अतः समझदार पिता संतान का संरक्षण उसके व्यवहार में सामाजिक होने के अर्थ में करता है। अर्थात संतान का न्यायपूर्ण व्यवहार में प्रमाणित होना।

पोषण–संरक्षण क्रिया सर्वसाधारण क्रिया है। इनका निर्वाह करना ही जागृत मानव का माता–पिता की भागीदारी स्वीकारना है अथवा माता–पिता का संतान के साथ संबंध पहचानना है। संतान के प्रति जागृत माता–पिता का विश्वास सहज होता है। यह विश्वास ममता और वात्सलय के रूप में प्रमाणित होता है। संतान व्यवसाय में स्वावलंबी और व्यवहार में सामाजिक हो जाए, यही पोषण और संरक्षण क्रिया का प्रयोजन है। यह संतान के स्वयं जागृत होने पर होता है। अर्थात माता–पिता संतान का पोषण–संरक्षण उसके जागृत होने और मानवीयतापूर्ण आचरण को प्रमाणित करने के अर्थ में करते हैं।

संतान व्यवसाय में स्वावलंबी होती है तो समृद्धि के भाव में निरंतर जीती है और दूसरों के समृद्ध होने में सहयोग करती है। व्यवहार में सामाजिक होती है अर्थात सामाजिक नियम को समझती है और उसमें सहजता से जीती है। सामाजिक नियम का तात्पर्य स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष और दयापूर्ण कार्य–व्यवहार से है। स्वधन यानि प्रतिफल (उत्पादन या सेवा संबंधित), पारितोष (परिवार–संबंधित), पुरस्कार (समाज–संबंधित) रूप में प्राप्त धन। स्वनारी/स्वपुरुष का अर्थ परिवार और संबंधित बंधु–जनों के सहमति से व्यवस्था में जीने के लिए प्रतिज्ञा सहित दाम्पत्य रूप में जीने की प्रतिज्ञा, स्वीकृति समारोह पूर्वक अंगीकार है।

माता–पिता, पुत्र–पुत्री के साथ–साथ भाई–बहन (या भाई–भाई या बहन–बहन) का संबंध भी एक पारिवारिक संबंध है। जागृत भाई–बहन आपस में पूरकता का संबंध पहचानते हैं। अर्थात वे एक दूसरे के सुख और समृद्धि में भागीदार हैं, यह उन्हें पूर्ण रूप से स्वीकार्य है। इसलिए वे साथ

न्याय में जीते हैं और तृप्त होते हैं। एक साथ परिवार की समृद्धि के लिए उत्पादन–कार्य करते हैं। कृषि से लेकर उद्योग–कार्यों में भागीदार होते हैं और परिवार की सामान्य आकाँक्षाओं और महत्वाकाँक्षाओं के लिए अपना श्रम लगाते हैं। स्वयं और दूसरे के समाधान और समृद्धि के लिए जागृत भाई–बहन अपना तन, मन और धन अर्पित करते हैं। अर्थात अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के लक्ष्य से उनका कार्य और व्यवहार नियंत्रित होता है। इसलिए भाई–बहन के संबंध में जागृत मानव एक दूसरे की प्रगति में सहायक होते हैं।

जागृत मित्र–मित्र का संबंध भी भाई–भाई जैसा संबंध होता है। वे एक दूसरे के समाधान के लिए समझने–समझाने और एक दूसरे के समृद्धि के लिए सीखने–सिखाने के कार्यक्रम और योजनाएँ बनाते हैं। वे एक दूसरे से समझने–समझाने के लिए चर्चाएँ और गोष्ठियाँ करते हैं और सीखने–सिखाने के लिए एक साथ उत्पादन–कार्य करते हैं। जागृत मित्र एक साथ उत्पादन–कार्यों में अन्य प्रयोग करते हैं ताकि परिवार और समाज की सामान्य और महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति हो सके और साथ ही, उत्पादन प्रक्रियाएँ प्राकृतिक समृद्धि को भी बनाये रखें। मित्र, जागृत भाई–बहन की तरह एक साथ अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के लिए कार्यरत रहते हैं।

भाई–बहन–मित्र एक दूसरे के लिए शुभ चाहते हैं। नासमझी की स्थिति में वे एक दूसरे के लिए शुभ कर नहीं पाते या उनके शुभ कर पाने में अनिश्चितता होती है। अर्थात वे कभी एक दूसरे को सुखी कर पाते हैं और कभी सुखी नहीं कर पाते हैं। नासमझी में मानव इस अनिश्चितता से दूसरे की शुभ की मूल चाहना के प्रति ही शंका करने लगता है। इसी कारणवश परिवार और समाज में भाई–बहन–मित्र के बीच, कई वर्ष साथ रहने के बावजूद, लड़ाई–झगड़े या एक दूसरे के प्रति विरोध देखने को मिलता है। जागृत होने पर ही मानव एक दूसरे के शुभ की कामना निरंतर करता है और उसका स्वयं स्फूर्त निर्वाह भी करता है। अर्थात एक दूसरे की उन्नति (समाधान और समृद्धि के अर्थ में) की चाहना और उसकी पूर्ति कर पाना ही भाई–बहन–मित्र संबंध कहलाता है।

मानवीय सभ्यता में भाई–बहन, भाई–भाई और बहन–बहन का संबंध परिवार व्यवस्था के अर्थ में होता है। मित्र–मित्र का संबंध परिवार से बड़ी व्यवस्था जैसे कुटुंब, गाँव, समाज में निर्वाह करने के अर्थ में होता है। मित्र–मित्र संबंध का संबोधन भी भाई और बहन ही होता है। दोनों भाई–बहन और मित्र–मित्र संबंध परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में भागीदार होने के अर्थ में होते हैं।

भागीदार होना ही संबंध में जीने का प्रमाण है।

सार रूप में, मानवीय व्यवस्था में माता–पिता–पुत्र–पुत्री संबंध में जागृत माता और पिता संतान के प्रति निरंतर उदार होते हैं। वे समझदारीपूर्वक सुख और समृद्धि के भाव में जीते हैं और संतान को समाधान के लिए प्रेरित करते हैं। जागृत भाई–बहन साथ मिलकर घर में सेवा और उत्पादन कार्यों में सहयोग करते हैं और परिवार में समृद्धि के भाव को प्रमाणित करते हैं और अपने शरीर के स्वास्थ्य को बनाये रखते हैं। साथ ही, महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति के लिए उत्पादन और उद्योग से संबंधित कार्य करते हैं। अर्थात जागृत मानव संबंधों को पहचानते हैं, उनमें पूरकता स्वीकारते हैं और उनमें समाधान, समृद्धि, अभय, सह–अस्तित्व के अर्थ में भागीदार अथवा प्रमाणित होते हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. संबंध किसे कहते हैं? संबंधों का फैलाव कहाँ तक है?
2. माता–पिता का पुत्र–पुत्री के साथ संबंध में क्या भागीदारी सहज है?
3. भाई–बहन एक दूसरे के लिए कैसे पूरक होते हैं?
4. मानव का अन्य व्यक्तियों के साथ कितने प्रकार के संबंध हैं? कौन से?
5. मित्र एक दूसरे के साथ संबंध का निर्वाह कैसे करते हैं?

गतिविधियाँ

(शिक्षक के लिए) प्रत्येक छात्र/छात्रा की अपने पारिवारिक संबंधों में क्या भागीदारी है, इस पर वह निबंध लिखवाएँ। साथ ही, कक्षा में संबंधों में भागीदारी और पूरकता पर सामूहिक चर्चा करें।

पाठ–12

मानव–मूल्य

मानव कल्पना करते हैं और अपनी कल्पना को साकार करने के लिए कार्य करते रहते हैं। हम कल्पना करने के लिए स्वतंत्र हैं और यह क्रिया निरंतर होती है। हम कर्म करने के लिए स्वतंत्र हैं और हमारे कर्म हमारी कल्पना अनुसार होते हैं। अर्थात कल्पना हमारी स्थिति है और कर्म हमारी स्थिति अनुसार हमारी गति है। अतः मानव कल्पनाशीलतावश अपनी योजनाएँ और कार्यक्रम निर्धारित करते हैं।

जागृत मानव की कल्पना संबंधों में जीना और अपने से बड़ी व्यवस्था में भागीदार होना अथवा अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में होती है। जागृति में मानव कल्पना अनुसार कार्य–व्यवहार कर उसके फल–परिणाम से तृप्त होता है। अपितु, अजागृत मानव कल्पना अनुसार कर्म कर उस फल–परिणाम से कभी सुखी और कभी दुखी होता है। अतः मानव जागृति में कर्म के साथ–साथ उसके फल–परिणाम में भी स्वतंत्र होता है।

मानव जैसे सोचता–विचारता है (कल्पनाशीलता), वैसे वह करता है (कर्मस्वतन्त्रता)। कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता, यह दोनों क्रियाएँ मानव के जीवन में होती हैं और साथ–साथ होती हैं। मानव की कल्पनाशीलता, उसकी स्थिति है। मानव की कर्मस्वतंत्रता उसकी गति है। यानि स्थिति, मानव के अन्दर होने वाली क्रिया है। गति, मानव की (स्वयं की) स्थिति का परस्परता में या दूसरी इकाई के साथ व्यक्त होने वाली क्रिया है। स्थिति मानव का होनापन है, जैसे सुखी होना और गति उसका दूसरे के साथ करने वाला पक्ष है, जैसे संबंधों में जीना।

अनुभव जागृत मानव की स्थिति है और सह–अस्तित्वपूर्वक जीना उसकी गति है। अतः स्थिति क्रिया और गति क्रिया मानव के जीवन

में साथ–साथ होती हैं। स्थिति–गति अविभाज्य क्रियाएँ हैं। ये क्रियाएँ अस्तित्व में हर इकाई की वास्तविकता हैं। अर्थात प्रत्येक इकाई की हर क्षण एक स्थिति क्रिया होती है और एक गति क्रिया होती है। जीवन में स्थिति और गति क्रिया में सामंजस्यता को जागृति कहते हैं।

जागृत मानव जब दूसरों के साथ व्यवहार करता है तो उसे मूल्यों का अनुभव होता है। इन मूल्यों को व्यवहार मूल्य कहते हैं। मूल्यों का अनुभव जीवन में होता है। मूल्यों की, हर वस्तु की तरह, एक स्थिति क्रिया और एक गति क्रिया होती है। व्यवहार करते समय जागृत मानव के जीवन में जो मूल्य स्थित (स्थिति के रूप में) होते हैं, वह स्थापित मूल्य कहलाते हैं। इन स्थापित मूल्यों सहित दूसरों के साथ अभिव्यक्त (गति के रूप में) होने में जिन मूल्यों का आदान–प्रदान होता है, उन्हें शिष्ट मूल्य कहते हैं। स्थापित मूल्य स्थिति क्रिया है और शिष्ट मूल्य गति क्रिया है।

स्थापित और शिष्ट मूल्य के संयुक्त रूप को व्यवहार मूल्य कहते हैं जैसे कि हम पहले पढ़ चुके हैं, व्यवहार में 18 मूल्य हैं जिनमें 9 स्थापित और 9 शिष्ट मूल्य हैं। **कृतज्ञता, गौरव, श्रद्धा, प्रेम, ममता, वातसल्य, विश्वास, सम्मान और स्नेह; स्थापित मूल्य हैं। सौम्यता, सरलता, पूज्यता, अनन्यता, उदारता, सहजता, सौजन्यता, सौहाद्रता और निष्ठा; शिष्ट मूल्य हैं।** इन्हें समझदार व्यक्ति परस्परता में दूसरे समझदार मानव के साथ परिवार और समाज में जीते हुए, स्वयं अपने जीवन में अनुभव करता है।

दूसरे के साथ जीने पर ही मूल्यों का निर्वाह होता है। अकेले रहने से कोई समझदार नहीं बन जाता और न ही वह मूल्यों का अनुभव कर सकता है। मूल्यों का अनुभव दूसरे को स्वीकारने पर ही होता है। जागृत व्यक्ति दूसरे को स्वीकारता है अर्थात उसके साथ अपना संबंध पहचानता है, उसके प्रति अच्छे सोच–विचार रखता है और उसके प्रति निश्चित भाव (मूल्य) का अनुभव करता है। इस भाव की निरंतरता जागृत मानव में होती हैं और इसकी अनुभूति से ही वह तृप्त होता है।

अनुभव संपन्न मानव आपस में स्नेहपूर्वक जीते हैं। स्नेह वह भाव है जिसमें संतुष्टि में, से के लिए स्वयं स्फूर्त मिलन होता है और उसकी निरंतरता भी बनी रहती है। जागृत भाई–बहन, मित्र–मित्र, अन्य संबंधी आपस में मिलते हैं क्योंकि उन्हें एक दूसरे के साथ समय बिताना अच्छा लगता है। वह परिवार रूप में साथ रहते हैं या उत्सवों में मिलते हैं, साथ शिक्षा और स्वास्थ्य कार्यों में भागीदार होते हैं, साथ उत्पादन और सेवा–कार्य करते हैं, इत्यादि। इन संबंधों में स्नेह

का भाव निरंतर बना रहता है। जागृति के स्तर पर मूल्यों में निश्चितता और निरंतरता दोनों सहज है, इनमें गुणात्मक परिवर्तन या उतार चढ़ाव नहीं होता है। स्नेह से युक्त होना अर्थात द्वेष, घृणा से मुक्त होना है। इस भाव सहित मानवीयतापूर्ण मानव अपने संबंधियों के साथ हमेशा निष्ठापूर्वक अभिव्यक्त होता है। अर्थात समाधान के लक्ष्य को स्मरणपूर्वक प्राप्त करने व प्रमाणित करने के लिए निरंतर प्रयासरत रहता है, यह निष्ठा का भाव है। स्वयं समाधान में जीता है और दूसरों के समाधान के लिए सोच–विचार करता है, उनके प्रति दयापूर्ण व्यवहार करता है, उनको सहजता से जीने देता है और खुद सहजता से जीता है। स्नेह मानव का स्थापित मूल्य हैं और निष्ठा उसका शिष्ट मूल्य है।

जागृत मानव में स्नेह का भाव है क्योंकि वह संबंध अथवा सह–अस्तित्व में विश्वास करता है। विश्वास हर संबंध का आधार है। इसे आधार मूल्य भी कहते हैं। विश्व के प्रति निःभ्रम होना ही विश्वास है। मानव जो समझता है, उसके प्रति विश्वास का अनुभव करता है। पूरे अस्तित्व को समझना और भ्रम से मुक्त होना ही विश्वास की निरंतरता का कारण है। इसीलिए समाधान की स्थिति ही विश्वास की स्थिति है।

मानव–मानव संबंध में विश्वास इस वास्तविकता को इंगित करता है कि सभी एक दूसरे के लिए सुख–समृद्धि चाहते हैं। इस समान चाहत के प्रति आश्वस्त होने से ही विश्वास है। जैसे जागृत भाई–बहन एक दूसरे के समझने, जीने, समझाने; सीखने, करने, सिखाने में पूरक हैं। दोनों एक साथ शिक्षा–कार्य में भागीदार होते हैं – एक दूसरे के साथ चर्चा करते हैं, अपनी समझ व्यक्त करते हैं और इस तरह एक दूसरे से समझते हैं। एक दूसरे के साथ जीते हैं और मूल्यों का निर्वाह करते हैं और उसका सुख अनुभव करते हैं। दोनों एक साथ खेलते हैं, व्यायाम करते हैं, श्रमपूर्वक उत्पादन करते हैं, घर की देख–रेख करते हैं, साइकिल इत्यादि यंत्रों की मरम्मत करते हैं। इस प्रक्रिया में दोनों कार्य करते समय एक दूसरे से सीखते रहते हैं और अपने शरीर के स्वास्थ्य को भी बनाये रखते हैं। समझने–समझाने में जागृत जीवन तृप्त होता है, सीखने–सिखाने में शरीर स्वस्थ रहता है। विश्वास में जीते हैं और एक दूसरे की बेझिझक मदद करते हैं और एक साथ आस–पास के मित्रों को समझने, सीखने में सहयोग करते हैं। यह, विश्वास की अभिव्यक्ति का नाम, सौजन्यता है। यथा सौजन्यता; सहकारिता, सहयोगिता, सहभागिता सहज क्रियाकलाप है।

जागृत भाई–बहन आपस में विश्वासपूर्वक व्यवहार करते हैं, उभय तृप्त होते हैं और न्याय का अनुभव करते हैं। उनमें न्याय एक वास्तविकता है क्यों कि वे सम्मान सहित व्यवहार करते हैं। स्वयं और दूसरे को जीवन रूप में समान देख पाने का भाव, सम्मान है। सभी मानव कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता युक्त हैं, सभी की चाहना (सुख और समृद्धि) समान हैं, सभी स्वयं से लेकर अस्तित्व को समझना चाहते हैं और सब समझने की क्षमता भी रखते हैं। यह समानता का भाव मानव में जागृति अथवा श्रेष्ठता का द्योतक है।

श्रेष्ठता की स्वीकृति और उसकी निरंतरता ही सम्मान है। श्रेष्ठता का अर्थ मानवीयता में परिपूर्ण होना है। श्रेष्ठ मानव स्वयं अपनी समझ (अथवा प्रतिभा) और अपने आचरण (अथवा व्यक्तित्व) में संतुलन सहित अभिव्यक्त होता है। श्रेष्ठता के आधार पर ही जागृत मानव दूसरों का सही आंकलन कर पाता है। अतः जो श्रेष्ठ हैं उससे समझने के लिए अर्पित होता है, जो स्वयं समझने के क्रम में है उसे समझाता है और जो समझता है उसके साथ सह–अस्तित्वपूर्वक जीता है।

सम्मानजनक अभिव्यक्ति का नाम सौहाद्रता है। श्रेष्ठ मानव का सरलतापूर्वक दूसरे को सर्वशुभ मार्गदर्शन देना ही सौहाद्रता है। जागृत मानव स्वयं सह–अस्तित्व सहज मर्यादा को ध्यान में रखते हुए दूसरे का वास्तविकता पर ध्यान दिलाता है। जैसे, समझदार मानव अजागृत मानव को समझाते समय उसको ज़िम्मदारीपूर्वक समझाता है। वह समझ जाये, समाधानित हो जाये, यह उसका उद्देश्य है। उसकी समझ के स्तर का आंकलन कर, उसको समझाता है। आंकलन करता है तो वह कितना समझा हुआ है और समझने के लिए उसमें कितनी योग्यता और पात्रता है, यह जागृत मानव देख पाता है। अजागृत मानव जितना समझता है या जितना समझने के लिए तत्पर रहता है, जागृत मानव वह देख प्रसन्न होता है और वह इन इच्छाइयों को इंगित करके अजागृत मानव को स्वयं के प्रति आश्वस्त करता है। अजागृत मानव आश्वस्त होता है तो सहजता से समझता है। यही एक गुरु और शिष्य के बीच का संबंध है। दूसरे के विकास के अर्थ में उसे आंकना और उसके अनुसार उसके साथ व्यक्त होना ही सौहाद्रता है। यह सम्मान की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

सभी संबंधों में न्यूनतम विश्वास, सम्मान, स्नेह का आदान–प्रदान होता है। ममता और वात्सलय जैसे व्यवहार मूल्य का अनुभव जागृत माता–पिता का संतान के साथ और गुरु का शिष्य के साथ

अधिकतर होता है। ममता वह भाव है जिसमें अपनत्व की पराकाष्ठापूर्वक पोषण–संरक्षण का कार्य होता है। दूसरे शब्दों में, माता–पिता शिशु की जागृति के लिए उसके शरीर की स्वस्थता के लिए सुखपूर्वक अपनी ऊर्जा लगाते हैं। यह उनकी ममता का भाव है जो उदारतापूर्वक व्यक्त होता है। स्व–प्रसन्नतापूर्वक दूसरों की जीवन जागृति, शरीर स्वस्थता व समृद्धि के लिए आवश्यकता अनुसार तन, मन, धन रूपी अर्थ का अर्पण–समर्पण करना ही उदारता है। उदारता, ममता का शिष्ट मूल्य है।

इसी तरह जागृत मानव (अथवा समाधानित माता–पिता, गुरु) वात्सलय सहित अजागृत मानव (या संतान, शिष्य) के विचारों को भी पोषित करते हैं। अभ्युदय अथवा जागृति के अर्थ में पोषण, संरक्षण की निरंतरता ही वात्सलय है। जागृत व्यक्ति अपने विचारों की स्पष्टता से अजागृत व्यक्ति को समाधान की ओर गति देता है। उसका समझाना और परिवार और समाज में न्यायपूर्वक जीना सहज है। उसकी स्पष्टता एवं प्रमाणिकता पूर्ण क्रियाकलाप अर्थात उसकी सहजता से अजागृत मानव प्रेरित होता है। जागृत मानव की सहजता में वह आराम पाता है, खुलकर चर्चा करता है और अपनी जिज्ञासा व्यक्त करता है। समाधानित मानव सभी जिज्ञासा को उत्तरित कर पाता है। यह सहजता, वात्सल्य की अभिव्यक्ति अथवा शिष्ट मूल्य है।

श्रेष्ठ मानव अथवा श्रेष्ठ माता–पिता–गुरु के व्यवहार से अजागृत मानव का जागृति की ओर प्रेरित होना निश्चित है। जागृति के पश्चात उसमें अपने प्रेरक अथवा गुरु के प्रति कृतज्ञता का भाव निरंतर बना रहता है। कृतज्ञता की पहचान दूसरे के मार्गदर्शन को समझने के लिए अनिवार्य मूल्य है। जिनसे अपनी उन्नति और जागृति के लिए सहायता मिली हो उनको और उनके सहयोग को स्वीकारना ही कृतज्ञता है। उन्नति और जागृति समाधान, समृद्धि, अभय, सह–अस्तित्व के अर्थ में होती है। कृतज्ञता और अन्य व्यवहार मूल्य जीवन में जागृति सहित निरंतर बने रहते हैं। श्रेष्ठता के प्रति कृतज्ञ होने से मानव व्यवहार में स्वेच्छा से स्व–नियंत्रित हो जाता है। अर्थात वह स्वस्थ मानसिकता से प्रस्तुत होता है, उसका उठना–बैठने, सोचना–विचारना, बोलना सब कार्य–व्यवहार समाधान के अर्थ में होता है। इसे सौम्यता कहते हैं। सौम्यता, कृतज्ञता का शिष्ट मूल्य है।

व्यवहार करते समय समझदार मानव श्रेष्ठता के प्रति गौरव के मूल्य को अनुभव करते हैं। जैसे मानव, अपने से अधिक समझदार मानव के प्रति गर्व महसूस करता है। दूसरे को स्वयं से ज़्यादा आंकना और दूसरे से समझने–सीखने के लिए तत्पर रहना, जागृत मानव की सरलता की अभिव्यक्ति है। अतः गौरव व्यवहार में स्थापित मूल्य है जो संबंध में निर्विरोधपूर्वक स्वीकृत अनुकरण

को परिभाषित करता है और सरलता, गौरव का शिष्ट मूल्य है जिसमें तनाव रहित अंगहार, क्रियाकलाप होता है।

समझदार मानव मानवीयतापूर्ण आचरण सहित जीता है और अजागृत मानव जागृत मानव को श्रेष्ठ मानकर उसके जैसा होना चाहता है। अर्थात जागृत मानव जैसे समाधान, समृद्धि, अभय और सह–अस्तित्व में जीना चाहता है। जागृत मानव जैसा होने के लिए वह अपनी जिज्ञासा जागृत मानव के सामने व्यक्त करता है और उनसे समझता है। समझने पर वह श्रेष्ठ मानव के प्रति निरंतर श्रद्धा अनुभव करता है। अजागृत मानव का जागृत होना, समझाने वाले की श्रेष्ठता का प्रमाण है। जागृत होने पर ही मानव को श्रेष्ठता की सही पहचान होती है और अतः वह श्रेष्ठता (श्रेष्ठ व्यक्ति) के प्रति निरंतर श्रद्धा के भाव में जीता है। समझदारी की ओर गतिशीलता और आचरणपूर्णता की ओर गुणात्मक परिवर्तन ही श्रद्धा है। श्रद्धा को स्वयं में अनुभव कर मानव जागृत मानव के प्रति पूज्यता व्यक्त करता है। पूज्यता, स्वीकार और अनुकरण करने योग्य ज्ञान, विवेक, विज्ञान संपन्नता सहित आचरणों की स्वीकृति सहित किया गया सम्मान है।

प्रेम जागृत मानव के व्यवहार में परम मूल्य है। प्रेम के भाव में बाकि सभी व्यवहार मूल्य समाये हैं। प्रेम ही पूर्ण अनुभूति है जिससे जागृत मानव सभी को संबंधी के रूप में स्वीकारता है और अपने और दूसरे के बीच कोई दीवार नहीं देखता है। सब सुखी होना चाहते हैं, यह समझते हुए समझदार मानव सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है और उनकी तृप्ति में भागीदार और ज़िम्मदार होता है। साथ ही, प्रेम; दया, कृपा और करुणा की संयुक्त अभिव्यक्ति है। इसीलिए जागृत मानव प्रेमपूर्वक दूसरों को समाधान की ओर प्रेरित करने की ज़िम्मेदारी स्वीकारता है। इस तरह विकसित मानव अविकसित के विकास में सहायक होता है। इस क्रिया का नाम अनन्यता है और यह प्रेम की सहज अभिव्यक्ति है।

उपरोक्त अनुसार जागृत मानव के संबंधों में 18 व्यवहार मूल्यों का आदान–प्रदान होता है। साथ ही, 6 मूल्य मानव की मौलिकता अथवा स्वभाव को परिभाषित करते हैं। यह धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा और करुणा हैं। इन्हें मानव मूल्य कहते हैं। यह मानव में जागृति, समाज में अखंडता और व्यवस्था में सार्वभौमिकता स्थापित करने के अर्थ में हैं। इनके अतिरिक्त जागृत जीवन में 4 मूल्य हैं – सुख, शांति, संतोष और आनंद। जीवन में आनंद की अनुभूति ही जागृति का स्तर है। आनंद में सुख, शांति और संतोष समाये हैं। साथ ही, हमारी भौतिक वस्तुओं में 2

मूल्य हैं – उपयोगिता और कला मूल्य। मानव और जीवन मूल्यों के बारे में आगे के भागों में विस्तार से चर्चा की गयी है।

अध्याय व अध्ययन

1. स्थापित मूल्य कौन–कौन से हैं? विस्तार से बताइए।
2. शिष्ट मूल्य कौन–कौन से हैं? विस्तार से बताइए।
3. दूसरा मुझसे श्रेष्ठ है तो मैं क्या करता/करती हूँ?
4. मैं दूसरे से श्रेष्ठ हूँ तो क्या करता हूँ/करती हूँ?

गतिविधि

(शिक्षक के लिए)

1. 'हर बच्चे को अपने–अपने भाई–बहन और मित्रों की अच्छाइयाँ लिखकर सबको बताने के लिए कहें।
2. किन–किन प्रकार से बच्चों के माता–पिता उनके लिए सहायक हैं, इस पर कक्षा में चर्चा करवाएँ।

पाठ–13

सामाजिक पूरकता

मानव प्रातः से सायं काल तक कुछ क्रियाकलाप करता है। जैसे मानव सुबह उठकर व्यायाम करता है, खेत और पशुघर में माता–पिता की मदद करता है, बाल्टी में पानी भरता है और नहाता है, कपड़े पहनता है, नाश्ता करता है। साथ ही, वह शिक्षा के लिए विद्यालय का महाविद्यालय जाता है। वहाँ अपने गुरु और मित्रजन से मिलता है, किताबें पड़ता है, चर्चा करता है, कॉपी में कलम या पेन्सिल से लिखता है। मानव दिन–भर जो समझता है, उसके बारे में घर में अपने परिवार के साथ चर्चा करता है। मानव की इन सभी क्रियाकलाप की पूर्ति में अनेक व्यक्तियों की भागीदारी रहती है।

अतः मानव के दिन–भर का कार्य और व्यवहार, न्यूनतम गाँव की व्यवस्था में जीने से ही संभव है। बाल्टी, कॉपी, कलम, पैन्सिल, किताबें, कपड़ें, घर, भवन, भोजन; यह सभी गाँव–नगर अथवा समाज में रहने से मानव और मानव के परिवार को उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए विद्यालय या महाविद्यालय की स्थापना और संचालन के लिए, गाँव–समाज के कई शक्ति भागीदार होते हैं।

विद्यालय के भवन–निर्माण में कई व्यक्ति भागीदार होते हैं। जैसे :

1. उपयुक्त ज़मीन के चयन के लिए गाँव की शिक्षा–संस्कार समिति के लोग
2. पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, लोहा, सीमेंट जैसी सामग्री एकत्रित करने के लिए व्यक्ति
3. सामग्री को बनाने वाले व्यक्ति अथवा सामग्री को बनाने के लिए स्थापित उद्योगों के कार्यकर्ता
4. चौक, बोर्ड, कॉपी, पेन, पेन्सिल इत्यादि जैसी सामग्री को बनाने एवं एकत्रित करने के लिए व्यक्ति
5. भवन बनाने के लिए कारीगर

6. भवन में बगीचों को बनाने के लिए व्यक्ति
7. बिजली, पानी की व्यवस्था के लिए उपयुक्त लोग
8. बिजली को आवर्तनशील विधि से बनाने वाले व्यक्ति
9. सामग्री आदि को कार्य–स्थली तक पहुँचाने के लिए वाहन चलाने वाले व्यक्ति एवं भारी सामग्री को उठाने के लिए क्रेन (भारोत्तोलन यंत्र) चलाने वाले व्यक्ति
10. वाहन, क्रेन बनाने वाले व्यक्ति
11. निर्माण–कार्य के लिए उपयुक्त औज़ार, उपकरण बनाने वाले कारीगर

इसी तरह, विद्यालय के संचालन के लिए भी कई लोग भागीदार होते हैं। जैसे :

1. विद्यालय के प्रबंधन–कार्य के लिए लोग
2. पढ़ाने के लिए शिक्षक और पढ़ने के लिए विद्यार्थी
3. पाठ्यक्रम बनाने के लिए शिक्षक और अन्य व्यक्ति
4. बिजली व पानी की व्यवस्था की देख–रेख के लिए लोग
5. भवन की सफाई के लिए लोग
6. बगीचों को संभालने के लिए लोग
7. विद्यार्थियों को कौशल सिखाने के लिए कार्यशाला के संचालन के लिए शिक्षक
8. पाठ्यक्रम, विद्यालय के संचालन आदि में अभिभावकों की भागीदारी
9. भवन के रख–रखाव के लिए व्यक्ति
10. विद्यालय में भोजन पकाने के लिए लोग
11. विद्यालय के कार्यों के लिए वाहन चलाने के लिए व्यक्ति

अतः विद्यालय के निर्माण और संचालन में कम से कम 1000 लोगों की प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष से भागीदारी रहती है। साथ, न्यूनतम 500 लोगों की भागीदारी प्रत्यक्ष रूप से रहती है। इसीलिए शिशु का विद्यालय में पढ़ना, गाँव–समाज जैसी व्यवस्था में ही संभव है।

साथ ही, गाँव–समाज में मानव के गुरु, मित्र, साथी और सहयोगी के सम्बन्ध हैं। उनमें से कई सम्बन्धी मानव के गाँव में ही रहते हैं और कई अलग–अलग गाँव में रहते हैं। उनसे मिलने व उत्सवों में भागीदार होने, वह दूसरे इलाकों में जाता हैं साथ ही, जागृत मानव उत्पादित वस्तुओं का विनिमय करने के लिए भी दूसरे गाँवों में जाता है। वह ज्ञान व मानवीय शिक्षा की सूचना पहुँचाने के लिए भी अन्य गाँव–इलाकों में जाता है। इस प्रकार से मानव के जीने का फैलाव अपने परिवार और गाँव से लेकर अन्य गाँव व समाज तक है।

जागृत मानव समाज में अभयता और सार्वभौम व्यवस्था के उद्देश्य से कार्य–व्यवहार करता है। स्वयं समाधानित होने पर दूसरों के समाधानित होने के लिए प्रयासरत रहना स्वाभाविक है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए जागृत मानव दूरश्रवन, दूरगमन और दूरदर्शन का उपयोग करता है। टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो के द्वारा समझने की वस्तु की सूचना अधिकतर लोगों तक पहुँचाता है; घोड़ा–गाड़ी और सड़क से दूसरे गाँवों में संवाद करने जाता है।

मानव परिवार–मुहल्ला–गाँव–नगर–समाज के संयुक्त सहयोग से उपरोक्त महत्वाकांक्षाओं की वस्तुओं का निर्माण करता है। जैसे, मानव का टेलीफोन का उपयोग कर पाना, कई व्यक्तियों की भागीदारी से ही संभव है। जैसे :

1. कुछ व्यक्ति टेलीफोन का ढाँचा बनाते हैं
2. टेलीफोन के ढाँचे के लिए उपयुक्त सामग्री बनाने के लिए उद्योग और उसमें कई कार्यरर्ता होते हैं
3. कुछ लोग टेलीफोन की ताम्बे की तारें बनाते हैं
4. कई व्यक्ति खदान से ताम्बे को निकालने का कार्य करते हैं
5. ताम्बे को ज़मीन से निकालने के पश्चात; उसको तोड़ने, पौडर बनाने, शुद्ध करने में कई लोगों का श्रम लगता है

6. ताम्बे को तैयार करने की प्रक्रिया में कई मशीनों को उपयोग होता है। इन मशीनों को बनाने में भी कई कारीगन होते हैं

7. कई लोग तांबे की तारें या टिकिया बनाकर उन्हें गोदामों में सुरक्षित रखते हैं

8. कुछ व्यक्ति गोदामों से उन्हें फैक्ट्री/कारखानों तक पहुँचाने का कार्य करते हैं

9. टेलीफोन की तारों को सुरक्षित रखने के लिए कई लोग तारों को प्लास्टिक में पैक करते हैं

10. टेलीफोन की तार मुहल्ले में एक 'बॉक्स' में जाती है और उस बॉक्स से एक बड़े टेलीफोन एक्सचेंज में जाती है। इस एक्सचेंज के कारण, तारों के माध्यम से, टेलीफोन से ध्वनि एक जगह से दूसरी जगह तक पहुँच पाती है। इस एक्सचेंज के संचालन में कई लोग भागीदार होते हैं।

अतः हजारों लोगों की भागीदारी से मानव टेलीफोन का उपयोग कर पाता है।

पाठ–14

उत्सव

मानव अपने कुटुंब और गाँव के सदस्यों से कई अवसरों पर मिलते हैं। मिलने पर वे अपनी खुशी और अपना उत्साह व्यक्त करते हैं। मानव की अभिव्यक्ति से उसके संबंधी भी प्रसन्न होते हैं और उत्साह में शामिल होते हैं। ऐसे मिलन को हम उत्सव कहते हैं।

उत्सवों में मिलने पर, एक दूसरे के साथ चर्चा करने पर, साथ में अन्य कार्य करने पर समझदार मानव एक दूसरे के साथ न्याय का अनुभव करते हैं। वे एक दूसरे के व्यवहार से प्रसन्न होते हुए मूल्यों को अनुभव करते हैं। इस स्नेहपूर्वक अभिव्यक्ति से वे सभी तृप्त होते हैं।

मिलने के साथ–साथ उत्सव में समझदार मानव मानवीय संस्कृति का प्रदर्शन करते हैं। संस्कृति समझदार मानव के मिलने के उद्देश्य को इंगित करता है। साथ ही, उत्सव की उपयोगिता एवं महत्व को गीत, नृत्य, संवाद, कला इत्यादि के द्वारा इंगित करता है। अर्थात संस्कृति समझदार मानव के मिलने के कारण और मिलने के तरीके का संयुक्त रूप है। समझदार मानव के इस अभिव्यक्ति से आगे की पीढ़ी भी प्रभावित होती है और उनके संस्कार बनते हैं।

मानवीय संस्कृति में जन्म संस्कार, जन्म दिवस, नामकरण संस्कार, शिक्षा संस्कार, विवाह संस्कार के लिए उत्सव मनाते हैं। साथ ही, प्रकृति और व्यवस्था से संबंधित उत्सव भी मनाते हैं, जिनमें उत्साह व्यक्त करते हुए प्रकृति (जैसे ऋतु) या व्यवस्था (जैसे शिक्षा) संबंधित सूचनाओं का आदान–प्रदान भी होता है।

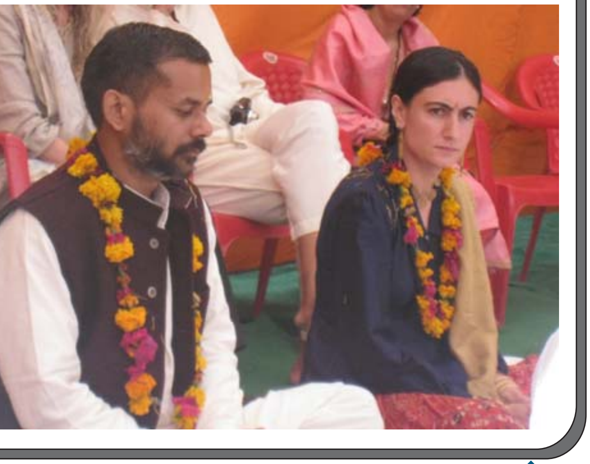

उत्सव कुटुंब, गाँव, समाज के स्तर पर मनाये जाते हैं। जैसे जन्म संस्कार परिवार और कुटुंब के स्तर पर मनाया जाता है और विवाह संस्कार परिवार एवं गाँव या अन्य परिवार एवं गाँव के स्तर पर मनाया जाता है। अक्सर प्राकृतिक और व्यवस्थागत उत्सव गाँव,

टोला और समाज के स्तर पर मनाये जाते हैं। इस अध्याय में हम जन्म संस्कार और नामकरण संस्कार के उत्सव की चर्चा करेंगे।

शिशु का जन्म, परिवार के लिए एक उत्सव है। समझदार माता–पिता, परिवार सहित, शिशु की जागृति के लिए संकल्प लेते हैं। शिशु सुशील हो, समझदार हो, स्वयं में समाधानित हो इसकी कामना करते हैं। अतः जागृत परिवार शिशु की जागृति के लिए मानवीयता का वातावरण उपलब्ध कराने में, उसकी शिक्षा के लिए अवसर उपलब्ध कराने में, उसके विचारों के पोषण के लिए समाधानित व्यक्तियों से मिलाने में, उसके शरीर के स्वास्थ्य का सही आहार और विहार से ध्यान रखने में प्रयासरत रहता है। अर्थात शिशु की जागृति के लिए इस जन्म संस्कारोत्सव पर समझदार मानव सहजता से अपने तन, मन और धन को सुखपूर्वक अर्पित करने का संकल्प लेता है। शिशु के विकास की ज़िम्मेदारी स्वीकारते हुए परिवार अपने आप को उत्साहित पाता है और अपनी इस खुशी को कुटुंब के अन्य सदस्यों के साथ व्यक्त करता है।

अतः जन्म–संस्कार उत्सव एक पारिवारिक उत्सव है। जिसमें जागृत परिवार और कुटुंब के सदस्य भी भागीदार होते हैं और शिशु की जागृति के लिए कामना करते हैं। इस उत्सव पर चर्चा और गीतों द्वारा शिशु के लिए मानवीयता पूर्ण संस्कारों की कामना करते हैं। श्रेष्ठ बुज़ुर्ग व्यक्ति शिशु के माता–पिता को उसकी परवरिश, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि के लिए मार्गदर्शन देते हैं। दादा–दादी, नाना–नानी विशेष रूप से, शिशु के विचारों के पोषण और शरीर के संरक्षण के लिए सलाह देते हैं। सभी समझदार मानव शिशु के विकास में अपनी भूमिका निभाते हुए उत्साहित होते हैं। इसीलिए मानवीय संस्कृति में जन्म संस्कार के लिए एक सामूहिक उत्सव होना स्वाभाविक है।

जन्म संस्करोत्सव, परिवार–कुटुंब में सभी का शिशु के साथ अपना संबंध पहचानने का अवसर है। इस अवसर पर शिशु और जागृत परिवार के अन्य सदस्यों को मिलने पर समझदार मानव संबंधों में निहित मूल्यों का अनुभव करते हैं। इस उत्सव में अनुभव संपन्न मानव सभी के सामने अपनी ज़िम्मेदारी और भागीदारी को स्वीकारते हैं और प्रसन्न होते हैं। ज़िम्मेदारी स्वीकारना और भागीदारी का निर्वाह करना ही संस्कार का प्रमाण है। उत्सव में इनकी स्वीकृति या घोषणा और प्रमाण से अग्रिम पीढ़ी के मानव, प्रभावित होते हैं। इस तरह अग्रिम पीढ़ियों में जन्म संस्करोत्सव की निरंतरता सहजता से बनी रहती है।

माता–पिता शिशु की जागृति की कामना करते हुए जन्म उत्सव के साथ–साथ नामकरण

संस्करोत्सव भी मनाते हैं। इस उत्सव पर समझदार परिवार के सदस्य, श्रेष्ठ वृद्ध व्यक्तियों या जागृत गुरुजन की सलाह लेकर, शिशु के संबोधन के लिए एक नाम का चयन करते हैं। चयनित नाम शिशु के विकास के अर्थ में होता है। उपस्थित परिवार और कुटुंब के सदस्य शिशु के नाम पर सामूहिक सम्मति व्यक्त करते हैं और इस दिवस से शिशु को उसके दिए गए नाम से संबोधित करते हैं। जागृत मानव के संबोधन में उस नाम से संबंधित भाव भी व्यक्त होना निहित है। अतः नामकरण उत्सव से जागृत परिवार की सहज अपेक्षा रहती है कि सभी मानव शिशु को उसके नाम से संबोधित करें और शिशु अपने नाम को (शब्द रूप में) पहचाने और उसे स्वीकारे। इस तरह नामकरण उत्सव शिशु के जागृति–क्रम का एक महत्वपूर्ण भाग है।

जन्म संस्कारोत्सव और नामकरण संस्कारोत्सव मानवीय व्यवस्था में ही संभव है जहाँ जागृत मानव इन उत्सवों का महत्व समझते हुए उनमें मानवीय संस्कृति का प्रदर्शन करते हैं और अग्रिम पीढ़ी के लिए मानवीय संस्कार की परंपरा पुष्ट करते हैं।

पाठ–15

मानव इतिहास

जब से इस धरती पर मानव रह रहा है, तब से अनेक प्रकार की घटनाएँ घटती रहीं। मनुष्य के विचार के अनुसार भी अनेक प्रकार के कार्यक्रम एवं घटनाएँ घटीं। इन घटनाओं एवं उनके निष्कर्षो का क्रम बद्ध आंकलन ही मानव इतिहास है। इन घटनाओं को मुख्यतः 7 प्रकार से देखा जा सकता है। ये निम्नलिखित है :

1. सामुदायिक इतिहास
2. शिला व धातु युग से संघर्ष युग का इतिहास
3. वैचारिक इतिहास
4. सांस्कृतिक इतिहास
5. आर्थिक इतिहास
6. राजनैतिक इतिहास
7. धार्मिक इतिहास

आज मानव उपरोक्त 7 प्रकार से स्वयं को एवं दूसरे मनुष्यों को पहचानता है। हम इन 7 प्रकार के मान्यताओं के इतिहास अध्ययन करते हैं।

1. सामुदायिक इतिहास : आज मानव स्वयं को एवं अन्य मनुष्यों को किसी समुदाय में मनता है। इसकी शुरूआत से आज तक की बदलती स्थिति को सामुदायिक इतिहास कहते हैं।

मानव के प्रारंभ मे एक परिवार ने दूसरे परिवार को भिन्न नस्ल के रूप में पहचाना। नस्ल का अर्थ वंश होता है। अपने परिवार या वंश को 'अपना' एवं दूसरे परिवार को 'पराया' मान लिया। अपना एवं पराया मानने के आधार पर संघर्ष हुआ। एक बार अपना एवं पराया की मान्यता बन गई

वह मान्यता आज तक बनी ही हुई है। आज भी परस्पर परिवारों में होड़ एवं संघर्ष दिखाई पड़ता है।

कुछ समय पश्चात मानव अन्य रंग के मानव से मिला। उन्हें भी पराया मान लिया। अपने जैसे रंग को अपना एवं भिन्न रंग को पराया माना। इस प्रकार अपना एवं पराया मानने के 2 आधार हो गए – पहला नस्ल एवं दूसरा रंग।

इसी क्रम में सर्वशक्तिमान वस्तु को ईश्वर आदि नाम दिया एवं उन्हें प्रसन्न करने के लिए उपासना, पूजा, पाठ–अर्चना, योग, ध्यान, साधना जैसे कार्यक्रम करते रहें। यहाँ भी एक प्रकार से साधना करने वाले स्वयं को अपना एवं भिन्न तरीके से करने वाले को पराया मान लिए। अपना एवं पराया मानने के आधार पर द्रोह–विद्रोह संघर्ष एवं युद्ध होता ही रहा।

चौथी बार भौतिक वस्तु के उपयोग के आधार पर अपना एवं पराया माना। भौतिक वस्तु के उपयोग में भोग एक भाग है, सुविधा दूसरा एवं संग्रह तीसरा। अर्थात अधिक संग्रह करने वाले स्वयं को अपना एवं कम संग्रह करने वाले को पराया माने। इसे अमीर और गरीब भी कहते रहें। इसी प्रकार सुविधा एवं भोग के आधार पर भी अपना–पराया रहा। इसमें एक नए प्रकार का कार्यक्रम बना; वह है शोषण। दूसरे समुदाय का शोषण।

इस प्रकार हम समझते हैं कि मानव–मानव में अपना–पराया के मुख्यतः 4 विभाजन बने। ये विभाजन के प्रकार समुदाय कहलाते हैं। समुदायों मे आज तक द्रोह, विद्रोह, शोषण, संघर्ष एवं युद्ध हो ही रहा है। मानव इन सबको चाहता नहीं है। परन्तु कर रहा है। करने के लिए बाध्य है। इसका मूल कारण मानव– मानव के बीच मे अपना–पराया की दीवाल बनाना। मानव–मानव में समानता – एक रूपता की समझ न होना।

2. शिला, धातु युग से संघर्ष युग तक :

मानव इतिहास में सर्वप्रथम जंगल में रहता हुआ मानव समुदाय आया है। वहाँ के मुख्य कार्यक्रम में आहार–आवास के लिए जंगल पर पूर्ण निर्भरता रही। इसी क्रम में जंगली जीव जन्तुओं से मुठभेड़ होती रही। मानव घायल होते रहे एवं मृत्यु भी होती रही। इसके साथ प्राकृतिक प्रकोपों का भय भी बना रहा जैसे शिलाखण्डों का गिरना, इनसे मानवों का हताहत होना। इस प्रकार जंगल युग में प्राकृतिक भय एवं पशु–भय प्रधान रहा। इससे मुक्ति पाने के कार्यक्रम होते

रहें। इसी के साथ मानव समुदायों में भी संघर्ष एवं युद्ध होते रहे।

जंगल से हटकर मानव कृषि करने लगा। इस क्रम में कई कबीले या ग्राम बने। जंगल में शिलाओं को प्रमुख हथियार के रूप में मानता रहा। कबीला युग में या ग्राम युग में धातुओं का प्रयोग बढ़ा। हथियार अधिक मज़बूत, टिकाऊ एवं घातक हो गए। जंगल से दूर होने के कारण पशुओं से मुठभेड़ कम हो गया एवं हथियारों की प्रखरता से उन पर विजय एवं अधिकार बढ़ गया। जंगल से हटते ही पशुभय भी कम हुआ। इस समय या इस युग में मानव–मानव के बीच जो भी युद्ध हुए वे पहले से अधिक भयंकर हुए। घातक हथियारों के कारण हताहतों की संख्या बढ़ी। मानव का मानव के प्रति भय बहुत बढ़ गया।

सैकड़ों–हज़ारों वर्षों के समय को युग कहा जाता है। जंगल युग का तात्पर्य है – हजारों वर्षो तक मानव जंगल में रहा। उस समय पत्थरों का मुख्य प्रयोग होता था। इसे शिला युग भी कहते हैं। इसी क्रम में हजारों वर्षों तक मानव कबीला या ग्रामों में रहते थें। उस समय धातुओं का बहुतायत में प्रयोग होने लगा। इसे कबीला एवं ग्राम युग कहते हैं। इसे ही धातु युग भी कहते हैं।

कबीला एवं ग्राम युग में मानव–मानव के बीच भय बढ़ने के कारण उससे मुक्ति का उपाय सोचा गया। एक राजा की कल्पना की गई जो इन दुःखों से मुक्ति देगा। इसी प्रकार प्राकृतिक प्रकोपों से मुक्ति का उपाय भी सोचा गया। ऐसा माना गया कि ईश्वर की कृपा से ही प्राकृतिक दुःख से मुक्ति संभव है। ईश्वर को बताने वाले गुरू कहलाए। इस प्रकार दुःख से मुक्ति पाने के 3 स्रोत पहचाने गए 1. ईश्वर 2. गुरू 3. राजा। गुरूओं ने राजा को ही ईश्वर का अवतार बताया। इन तीनों की आज्ञा के अनुसार चलने के नियम बने। ईश्वर की आज्ञा को पवित्र ग्रंथ माना गया। इन तीनों के आज्ञा के अनुसार चलने वाले सभ्य कहलाए एवं इनकी आज्ञा न मानने वाले असभ्य कहलाए। असभ्यों के लिए दण्ड का प्रावधान किया गया। इसे मानने वालों की बहुतायत होने के कारण इसे दास युग कहा गया। दास युग में मानव–मानव के बीच संघर्ष एवं युद्ध होते ही रहे। ईश्वर का भय भी प्रधान हो गया।

दास युग के दुःखों से मुक्ति पाने के लिए मानव विचार करते रहें। इसी क्रम में संघर्ष युग आया। इस युग में अधिकांश मानव ईश्वर के भय को, गुरू के भय को एवं राजा के भय को नकारने लगे। इसका कारण विज्ञान एवं तकनीकी आधारित विचार धारा रही। इसके बाद नया लक्ष्य स्वीकारा गया 'सुविधा एवं भोग'।

संघर्ष युग में संघर्ष बढ़ गया, बड़े–बड़े एवं भीषण युद्ध हुए। युद्धों में लाखों की संख्या में नर संहार हुए, जो कबीला युग में बहुत कम होते थें। सभी लोगों में सुविधा संग्रह एवं भोग की चाह बढ़ी। प्रयास बढ़े। कुछ लोगों को ये सब मिला परन्तु अधिकांश लोगों को नहीं मिला। इस क्रम में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन एवं शोषण हुआ। पर्यावरण संतुलन बिगड़ गया।

इस प्रकार क्रम से देखें तो जंगल युग से आज तक प्राकृतिक एवं पशुभय घटा, मानव में निहित अमानवीयता का भय चरम हो गया। कोई भी मनुष्य क्रेद्रित होकर इस धरती को ही नष्ट कर देगा – ऐसा भय प्रत्येक लोगों में भरता जा रहा है। सुविधा–संग्रह–भोग न मिलने से अतृप्ति भी बढ़ गई है।

अभ्यास व अध्ययन

1. सामुदायिक इतिहास किसे कहते हैं?
2. शिला युग, धातु युग और संघर्ष युग में भेद बताइए।
3. शिला युग किसे कहते हैं?
4. धातु युग किसे कहते हैं?
5. कबील युग, ग्राम युग में क्या होता था?

पाठ–16

मानवीय व्यवस्था

प्रत्येक मनुष्य के निरंतर सुखी रहने की व्यवस्था मानवीय व्यवस्था कहलाती है। मानवीय व्यवस्था में प्रत्येक मानव के लक्ष्य पूर्ति सहित जीने की व्यवस्था रहती है। इसे इस प्रकार से भी समझ सकते हैं कि मानवीय व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति में समाधान, प्रत्येक परिवार में समाधान एवं समृद्धि, समाज में अभय एवं पूरे विश्व में सह–अस्तित्व प्रमाणित होता है। समझदारी सम्पन्न मानव के जीने का ढंग मानवीय व्यवस्था कहलता है। इसे ही वर्तमान में विश्वास एवं भविष्य का आश्वासन कहते हैं।

वर्तमान में विश्वास होना मानव की सर्व प्रथम आवश्यकता है। अविश्वास के साथ मानव तृप्तिपूर्वक जी नहीं सकता। अतृप्ति सहित जीना ही सारे अपराध, शंका एवं अभाव का कारण है। विश्वास के साथ जीना ही व्यवस्था है। विश्वास के साथ जीने वाले सभी मानव, अन्य मानव के साथ न्याय कर सकते हैं। सभी मानव के साथ सम्बंधों को पहचान सकते हैं एवं सही ढंग से निर्वाह कर सकते हैं। इसकी निरंतरता होना ही भविष्य का आवश्वासन है।

न्याय सुलभता, उत्पादन–सुलभता एवं विनिमय सुलभता का संयुक्त वातावरण मानवीय व्यवस्था है। न्याय सुलभता का अर्थ है प्रत्येक मानव को न्याय मिल सके। प्रत्येक मानव को सम्बंध ी के रूप में पहचानने एवं उस सम्बंध को निर्वाह करने में सक्षम व्यवस्था, मानवीय व्यवस्था है। अर्थात प्रत्येक मानव में जीवन बल, जीवन शक्ति, जीवन रचना एवं जीवन लक्ष्य समान है, ऐसी समझ से सम्पन्न व्यवस्था में मानव के साथ न्याय होता है। क्योकिं जीवन बल, जीवन शक्ति, जीवन रचना एवं जीवन लक्ष्य की समानता समझ में आने एवं स्वीकृत होने पर ही 'प्रत्येक मानव समान' का भाव बनता है एवं तद्नुसार निर्वाह होता है। जब तक मानव में समानता का बिन्दु स्पष्ट न हो न्याय की सम्भावना नहीं है। मानव को शरीर मात्र मानकर जीने से मानव को अलग–अलग नस्ल, अलग–अलग समुदाय के रूप में पहचाना गया है। कोई समुदाय श्रेष्ठ एवं कोई नेष्ट है, इसी रूप में पहचान होती रही है। शारीरिक गुण को प्रधान मानने से स्त्री–पुरूष की

समानता भी नहीं पहचानी जा सकी। अतः जीवन की समझ के साथ ही मानव में समानता स्वीकार होती है एवं न्याय होता है। न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति के साथ विश्वास, सम्मान, स्नेह जैसे मूल्यों सहित निर्वाह होना। प्रत्येक व्यक्ति को न्याय सुलभ होना मानवीय व्यवस्था की सर्वप्रमुख पहचान है।

मानवीय व्यवस्था का दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु है प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन के अवसर सुलभ होना। उत्पादन से ही मानव समृद्धि का अनुभव करता है एवं व्यवस्था में भागीदारी करने में समर्थ होता है। परिवार में समृद्धि न होने से वह परिवार स्वायत्त परिवार नहीं होता, स्वयं व्यवस्था नहीं होता एवं व्यवस्था में भागीदारी कर नहीं सकता। दूसरे शब्दों में समाधान–समृद्धि रहित परिवार अव्यवस्था का प्रकाशन है। मानवीय व्यवस्था में प्रत्येक परिवार का समृद्ध होना अनिवार्य है। प्रत्येक स्वस्थ एवं वयस्क मानव का उत्पादन करने में सक्षम होना अनिवार्य है। इसके लिए अनिवार्य संसाधन की उपलब्धता भी व्यवस्था है। संसाधन को उपलब्ध कराने का दायित्व सर्वप्रथम परिवार का ही है। परिवार में यह संभव न होने पर परिवार से बड़ी व्यवस्था जैसे परिवार समूह, ग्राम/मुहल्ला व्यवस्था इसे उपलब्ध कराती है। संसाधनों का सदुपयोग कर, उत्पादन करने में सक्षम होना प्रत्येक व्यक्ति के समाधानित होने पर सहज होती है।

मानवीय व्यवस्था का तीसरा बिन्दु है विनिमय सुलभता। प्रत्येक उत्पादक अपने उत्पादन को विनिमय करता है क्योंकि एक व्यक्ति सभी प्रकार के उत्पादन नहीं कर सकता। विनिमय, मानवीय व्यवस्था में अनिवार्य आयाम है। श्रम पूर्वक जो उत्पादन किया जाता है, उसका विनिमय किया जाता है। विनिमय में उत्पादन प्रक्रिया से अधिक श्रम से तैयार वस्तु के बदले में कम श्रम से तैयार वस्तु मिलने से मानव तृप्त नहीं होता, शोषित होना स्वीकारता है। शोषण होना व्यवस्था नहीं है। शोषण अव्यवस्था का प्रकाशन है। न्याय, उत्पादन और विनिमय सुलभ होना ही मानवीय व्यवस्था है।

परिवार व्यवस्था, मानवीय व्यवस्था की सबसे छोटी व्यवस्था है। इसे हम मानवीय व्यवस्था की मूल इकाई भी कहते हैं। ऐसे ही

अनेक व्यवस्था मिलकर क्रम से और बड़ी व्यवस्था को व्यक्त करते हैं। इसकी पराकाष्ठा को विश्व परिवार व्यवस्था कहते हैं। इसे सार्वभौम व्यवस्था भी कहते हैं। परिवार व्यवस्था ही स्वायत्त परिवार है। ऐसी व्यवस्था में न्याय, उत्पादन और विनिमय, ये तीन आयाम होते ही हैं। प्रत्येक स्वायत्त परिवार के सभी सदस्य आपस में सम्बंधों को पहचानते हैं, मूल्यों का निर्वाह करते हैं। आपस में तृप्त रहते हैं। परिवार अपनी आवश्यकता को पहचान कर उसे उत्पादन द्वारा प्राप्त करता है। विनिमय में शोषण विहिन प्रक्रिया को अपनाता है – श्रम मूल्य के आधार पर विनिमय करता है। यह स्वायत्त परिवार का स्वरूप है। यही मानवीय व्यवस्था की मूल इकाई है।

मानवीय व्यवस्था में 5 आयाम होते हैं।

1. न्याय–सुरक्षा
2. उत्पादन–कार्य
3. विनिमय–कोष
4. शिक्षा–संस्कार
5. स्वास्थ्य–संयम

इनमें से प्रथम तीन आयाम प्रत्येक परिवार में पूर्णतः प्रमाणित होते हैं। शेष दो आयाम प्रत्येक परिवार में पूर्णतः प्रमाणित नहीं होते हैं। शेष दो आयाम परिवार से बड़ी व्यवस्था में प्रमाणित होते हैं। परिवार व्यवस्था में शिक्षा–संस्कार का प्रारंभिक स्वरूप होता है क्योंकि परिवार में समझदार व्यक्ति रहते ही हैं। इसी प्रकार स्वास्थ्य–संयम का प्रारंभिक स्वरूप भी परिवार में ही रहता है। इन दोनों आयामों की पूर्णता ग्राम/मुहल्ला व्यवस्था या इससे बड़ी व्यवस्था की इकाई में होती है।

समझदारी सम्पन्न व्यक्ति शिशु एवं कुमार आयु के बालकों एवं बालिकाओं को समझदार बनाने के उद्देश्य से शिक्षा देते हैं। इसमें मानवीय व्यवस्था, मानवीय संस्कृति, मानवीय सभ्यता एवं मानवीय विधि को समझाने एवं प्रमाणित करने का उद्देश्य रहता है। प्रत्येक शिशु में समाधानित होने की मूल चाहत के अनुकूल होने के कारण, शिशु काल से ही शिक्षा में उत्साह बना रहता है। अखण्ड मानव समाज एवं सार्वभौम व्यवस्था में जीने योग्य स्वीकृति होना मानवीय संस्कार

कहलाता है। यही शिक्षा–संस्कार कार्यक्रम का उद्देश्य है।

मानवीय व्यवस्था का पाँचवा आयाम स्वास्थ्य–संयम है। प्रत्येक मानव स्वस्थ रहने पर व्यवस्था में भागीदारी कर सकता है। अनुकूल आहार एवं विहार द्वारा मानव स्वस्थ रहता है। इसकी स्वीकृति होने एवं अभ्यास होने पर प्रत्येक मानव स्वयं स्वास्थ्य–संरक्षण कर सकता है।

शिक्षा–संस्कार एवं स्वास्थ्य–संयम, मानवीय व्यवस्था के स्रोत हैं। उत्पादन, विनिमय एवं न्याय मानवीय व्यवस्था के लिए अनिवार्य कार्यक्रम हैं। इन पाँचों आयामों के साथ जीने पर मानवीय व्यवस्था सफल होती है।

अभ्यास व अध्ययन

1. मानवीय व्यवस्था किसे कहते हैं?
2. मानव में समानता का आधार कब समझ में आता है?
3. मानवीय व्यवस्था के आयाम कौन से हैं?
4. न्याय सुलभता को स्पष्ट कर दीजिए।
5. उत्पादन सुलभता को स्पष्ट कर दीजिए।
6. विनिमय सुलभता को स्पष्ट कर दीजिए।
7. शिक्षा–संस्कार एवं स्वास्थ्य–संयम, इन आयामों को स्पष्ट कीजिए।

पाठ–17

दृष्टा, कर्ता, भोक्ता

प्रकृति की चौथी अवस्था – ज्ञानावस्था – में हर मानव दूसरे मानव के साथ संबंधपूर्वक रहते हुए शेष प्रकृति के साथ संबंध का निर्वाह करना चाहता है। यह सभी मानव की इच्छा है – इसलिए मानव का सामाजिक होना सहज है। अपने परिवार–जन की भौतिक–साधन की आवश्यकता को पूरा करते हुए समाज में उसका सदुपयोग हो पाए – ऐसा सभी मानव की इच्छा है। भौतिक–साधन के सदुपयोग से मानव के आचारण में संगीतमयता होती है और मानवीयता प्रखर होती है। ऐसी व्यवस्था जो मानवीयता के साथ रहने में सहयोग करती है, उसे मानवीय व्यवस्था कहते हैं। इसके विपरीत एक ऐसी व्यवस्था जो मानवीयता का विरोध करती है – उसे अमानवीय व्यवस्था कहते हैं। मानवीय व्यवस्था का सबसे प्रखर रूप अर्थात पूर्ण रूप को हम अतिमानवीय व्यवस्था कहते हैं।

अमानवीय, मानवीय और अतिमानवीय व्यवस्था को समझने के लिए इन तीनों व्यवस्था में मानव की प्रवृत्ति क्या होती है – आईये इसको समझते हैं।

मानव प्रवृति को हम तीन आयाम में समझ सकते हैं। यह तीन आयाम है – दृष्टि, विषय और स्वभाव। इन तीनों आयाम के सम्मिलित रूप को मानव प्रवृत्ति कहते हैं।

किसी भी वस्तु को जिस उद्देश्य से देखते हैं, सोचते–विचारते हैं, उसे **दृष्टि** कहते हैं। जैसे अगर हर निर्णय अपने लाभ के अर्थ में लेते हैं तो दृष्टि – लाभ की हुई, अगर हर सोच–विचार अपने प्रिय वस्तु को पाने के लिए करें तो दृष्टि – प्रिय हुई। **विषय** का अर्थ है किसी विषय को अपने जीने में प्रमुखता देना या लक्ष्य स्वीकारना। जैसे कई लोग – नौकरी को बहुत प्रमुखता देते हैं, कुछ लोग बड़े कॉलेज में जाने को प्रमुखता देते हैं और उसके लिए लगे रहते हैं। **स्वभाव** का अर्थ है – वस्तु की मौलिकता। दृष्टि, विषय और स्वभाव के इस अविभाज्य आधार पर अमानवीय, मानवीय या अतिमानवीय प्रवृत्ति होती है और इसके आधार पर अमानवीय, मानवीय और अतिमानवीय व्यवस्था होती है।

मानवीय प्रवृत्ति वाला मानव न्याय, धर्म और सत्य को ध्यान में रखकर सोच–विचार करता है। यह उसकी दृष्टि होती है। न्याय का अर्थ है कि मानव–मानव संबंध में हर पक्ष तृप्त हो। धर्म का अर्थ है कि मानव–प्रकृति संबंध में हर पक्ष समृद्ध हो अर्थात प्रकृति भी बनी रहे और साथ–साथ समृद्ध हो और मानव भी समृद्ध हो। सत्य का अर्थ है कि मानव में समाधान की परम्परा बन जाए अर्थात आने वाली हर पीढ़ी में समाधान निश्चित हो। मानवीय व्यवस्था में मानव इन तीनो न्याय, धर्म और सत्य के अर्थ में अपना सारा सोच–विचार करता है।

मानवीय प्रवृत्ति वाला मानव – मानवीय विषय – पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा चाहता है, उसे जीने में प्रमुखता देता है। पुत्रेषणा का अर्थ है कि परिवार और समाज में न्याय पूर्वक रहते हुए अन्य मानव का साथ मिले, उनका सहयोग मिले। वित्तेषणा का अर्थ है कि न्याय पूर्ण परिवार और समाज में आवश्यकता और सदुपयोग के लिए भौतिक–साधन (धन) उपलब्ध हो – जिससे की समाज में अभय हो। लोकेषणा का अर्थ है कि न्यायपूर्वक, धर्मपूर्वक और सत्यपूर्वक रहने से समाज में यश प्राप्त हो। इस प्रकार मानवीय व्यवस्था में मानव का विषय – लोकेषणा, वित्तेषणा और पुत्रेषणा है।

प्रवृत्ति का तीसरा आयाम स्वभाव है। मानवीय प्रवृत्ति में धीरता, वीरता और उदारता मूल्य हैं। धीरता का अर्थ है कि मानव–मानव संबंध में उभय तृप्ति का अनुभव कर, मानव का इस आचरण के प्रति प्रसन्नता पूर्वक स्थिर रहना। वीरता का अर्थ है कि दूसरे मानव को उसके संबंधों में न्याय का अनुभव हो जाए, इसके लिए मानव प्रसन्नता पूर्वक कार्यरत रहते हैं। उदारता का अर्थ है कि प्राप्त सुख–सुविधाओं को दूसरे के लिए प्रसन्नता पूर्वक उपलब्ध कराना। इस प्रकार मानवीय स्वभाव धीरता, वीरता और उदारता है।

अपितु, अमानवीय प्रवृत्ति में दृष्टि प्रिय, हित और लाभ की होती है अर्थात सोचने–विचारने का तरीका रूचि के आधार पर, हित (शरीर–स्वास्थ्य) के आधार पर और लाभ के आधार पर होता है। अमानवीय प्रवृत्ति में विषय आहार, निद्रा, भय और मैथुन होते हैं। अमानवीय प्रवृत्ति में स्वभाव दीनता, हीनता और क्रूरता होते हैं।

मानवीय प्रवृत्ति से श्रेष्ठ अतिमानवीय प्रवृत्ति होती है और इस प्रवृत्ति का मानव, सर्व मानव के उपकार के लिए प्रसन्नता पूर्वक समर्पित रहता है। अतिमानवीय प्रवृत्ति अध्ययन और अभ्यास तथा मानवीय प्रवृत्ति से अगला क्रम है और इसमें दृष्टि मात्र सत्य की ही होती है। अतिमानवीय विषय

भी सत्य ही होता है। अतिमानवीय स्वभाव दया, कृपा और करुणा होते हैं।

जो व्यवस्था – अमानवीयता का पोषण करती है, उसे अमानवीय व्यवस्था या अव्यवस्था कहते हैं। व्यवस्था जो मानवीयता का सहयोग करती है, उसे मानवीय व्यवस्था कहते हैं और जो व्यवस्था अतिमानवीयता का पोषण करती है, उसे अतिमानवीय व्यवस्था कहते हैं। सभी मानव मानवीय व्यवस्था और अतिमानवीय व्यवस्था की चाहत रखते हैं और सभी इस अर्थ में समान है।

अभ्यास व अध्ययन

1. दृष्टि किसे कहते है?
2. कर्ता और भौक्ता का क्या अर्थ है?
3. मानवीय प्रवृत्ति व मानवीय व्यवस्था क्या है?
4. अमानवीय प्रवृत्ति व अमानवीय व्यवस्था क्या है?
5. अतिमानवीय प्रवृत्ति व अतिमानवीय व्यवस्था क्या है?

पाठ–18

नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म और सत्य

सह–अस्तित्व में नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म और सत्य हैं। इन 6 तथ्य को, व्यापक में चारों अवस्थाओं में स्पष्टता सहित हम समझ सकते हैं। इसको समझने के लिए हम चारों अवस्था के आचरण का अध्ययन करते हैं। इकाई के आचरण का अर्थ होता है – इकाई की व्यवस्था का प्रकाशन। चारों अवस्थाओं के आचरण का आधार नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, ध ार्म और सत्य है।

नियम, पदार्थावस्था के आचरण में स्पष्ट रूप से समझ में आता है। प्राण अवस्था के आचरण में नियम के साथ नियंत्रण भी रहता है। जीव अवस्था में नियम, नियंत्रण के साथ संतुलन के अनुसार व्यवस्था होती है।

ज्ञान अवस्था में स्थित मानव, जीवन और शरीर का सह–अस्तित्व है। मानव–शरीर, प्राणकोशिकाओं से रचित एक रचना है और जीवन, चैतन्य इकाई है। इस प्रकार नियम, नियंत्रण और संतुलन के साथ न्याय, धर्म और सत्य के स्वरूप में मानव का संपूर्ण आचरण है।

सह–अस्तित्व में 'नियम' है और इसका प्रमाण पदार्थ अवस्था में प्रकाशित भौतिक और रासायनिक क्रिया में स्पष्ट देख और समझ सकते हैं। पदार्थ अवस्था की हर इकाई में यह दोनों क्रियाओं निरंतर है। नदी का बहता हुआ पानी, पत्थर का पानी से लगातार घिसना, आंधी, तूफ़ान, चक्रवात – यह सभी भौतिक क्रिया के कुछ उदाहरण हैं। इन्हें अपने परिवेश में आसानी से पहचान सकते हैं। रासायनिक क्रिया के रूप में शरीर में विभिन्न प्रकार के रस और उपरस हैं। जैसे शरीर में रक्त और पाचक रस, मांस–पेशियाँ, हड्डी इत्यादि। यह पदार्थ रसायनिक क्रिया के कारण ही हैं और रासायनिक क्रिया में ही रत हैं। भोजन का पचना, प्राण–कोशाओं का निर्माण होना, शरीर में पुष्टि होना इत्यादि, यह सभी क्रियाएँ प्रकृति में रासायनिक क्रिया के उदाहरण हैं।

भौतिक और रासायनिक क्रिया, नियम पूर्वक होती हैं और यह नियम स्थिर हैं, बदलते नहीं हैं। हर स्थिति, परिस्थिति में पानी ढलान की और बहता है, हलकी वस्तु पानी में तैरती है और भारी

वस्तु पानी में डूबती है। ये भौतिक नियम के उदाहरण हैं और इसी प्रकार रासायनिक क्रिया भी नियम के साथ हैं। वाष्प और वायु के साथ, लोहे में जंग लगता है और यह रासायनिक क्रिया के नियम तहत ही होता है। इस प्रकार मानव को यह स्पष्ट समझ में आता है कि पदार्थ अवस्था की इकाई, भौतिक और रासायनिक क्रिया स्वरूप में, नियम पूर्वक क्रियाशील है।

मानव, भौतिक और रासायनिक क्रिया के नियम को गणित पूर्वक, भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र के माध्यम से अध्ययन करते हैं और इन शास्त्रों के द्वारा इन नियम को व्यक्त करने में सुलभता होती है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि नियम को समझने के बाद ही उसकी गणितात्मक या गुणात्मक भाषा में, भौतिक और रसायन शास्त्र के रूप में, सम्प्रेष्णा है। इसलिए सह–अस्तित्व के नियम को समझना सभी के लिए एक आवश्यकता है।

सह–अस्तित्व में नियम के साथ–साथ नियंत्रण भी है। इस तथ्य को प्राण अवस्था की क्रियाओं में और उनके आचरण में समझ सकते हैं। इस पृथ्वी पर अनेकों पेड़, पौधे, घास इत्यादि की प्रजातियाँ वर्तमान है। हर प्रजाति, अन्य प्रजाति के साथ–साथ अपनी प्रजाति की परंपरा को बनाए रखती है। आम, अमरूद, नीम जैसे कई पेड़ हैं, जिनमें अनेकों बीज होते हैं, परंतु ऐसा नहीं है कि कोई एक प्रजाति ही पूरी पृथ्वी पर फैली हुई हो। अगर ऐसा होता तो हर स्थान पर एक ही तरह के पेड़ या पौधे हमें देखने को मिलते। लेकिन हमारी पृथ्वी पर अनेकों तरह की हरियाली है और इसको हम नियंत्रण कहते हैं।

प्राण अवस्था की हर इकाई की एक आयु है और इस आयु में उनमें एक निश्चित समय तक ही फल और फूल बनते हैं। अगर पेड़–पौधों में बहुत बीज होते हैं तो बीज को पेड़ या पौधे में बदलने में अनेकों परिस्थिति की आवश्यकता होती है और इसलिए हर बीज पौधे का रूप नहीं ले पाता। कम बीज पैदा करने वाले पेड़ या पौधे के बीजों को उगने के लिए कम परिस्थिति के संयोग की आवश्यकता होती है। यह सह–अस्तित्व में सहज नियंत्रण है और प्राण अवस्था की इकाई के क्रियाओं में और उनके आचरण में हमें यह स्पष्टता से समझ में आता है।

जीवावस्था में भूचर, जलचर और नभचर जीवों की गणना है। इन जीवों की प्रजाति में नर और मादा के शरीर के स्वरूप में भिन्नता होती है। सह–अस्तित्व में हर प्रजाति के अध्ययन में यह स्पष्ट होता है कि नर और मादा के शरीर की मात्रा में एक संतुलन है। इसे सह–अस्तित्व में

'संतुलन' की व्यवस्था कहते हैं। बच्चों के लिंग में हमेशा एक निश्चित अनुपात बना रहता और ज्यादातर इनमें बराबर की मात्रा रहती है। परंतु अनुपात निश्चित है और यह संतुलन का प्रमाण है। मांसाहारी और शाकाहारी प्रजाति के जीवों की संख्या में भी 'संतुलन' प्रमाणित है।

सह–अस्तित्व में नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म और सत्य उपलब्ध है। इसे जाँच सकते हैं, शोध कर सकते हैं। यह हर समय और हर स्थान पर मानव के जाँचने के लिए उपलब्ध है। नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म और सत्य को समझकर मानव सह–अस्तित्व को स्वीकारते हैं और न्याय, धर्म और सत्य पूर्वक जीकर सुखी रहते हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. "पदार्थ अवस्था के आचरण का आधार नियम है" – इसको विस्तार से स्पष्ट कीजिए।
2. प्राण अवस्था में हमें किस तरह से नियंत्रण देखने को मिलता है?
3. जीवावस्था में किस तरह से हम संतुलन को देख पाते हैं?
4. ज्ञानावस्था में न्याय, धर्म और सत्य को स्पष्ट कीजिए।

पाठ–19

ज्ञान, विवेक और विज्ञान

अस्तित्व सह–अस्तित्व है। यह हर समय और स्थान पर नियम के रूप में वर्तमान है। इस तथ्य को जान लेना और स्वीकार कर लेना ही ज्ञान है और यह ज्ञान सभी मानव के लिए उपलब्ध है। सह–अस्तित्व ज्ञान के आधार पर मानव, जीवन का लक्ष्य निश्चित करते हैं। लक्ष्य को स्वयं में सोच–विचार पूर्वक निश्चित करना ही विवेक है। यह लक्ष्य हर मानव के लिए है और एक समान है – अतः इसे मानवीय लक्ष्य भी कहते हैं। अपने निश्चित मानवीय लक्ष्य को मानव कैसे पाएंगे – इस सोच–विचार को विज्ञान कहते हैं। इस प्रकार सह–अस्तित्व ज्ञान से विवेक, ज्ञान और विवेक से विज्ञान का क्रम है।

सह–अस्तित्व ज्ञान इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि संपूर्ण प्रकृति शून्य या व्यापक सत्ता में सम्पृक्त है। परमाणु से लेकर बड़े ग्रह–गोल और आकाश–गंगा, व्यापक में हैं। हर परमाणु क्रियाशील है और अंततः उसकी मूल ऊर्जा का स्रोत व्यापक ही है। सभी मानव का लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय और सह–अस्तित्व है। यह मानव विवेक पूर्ण निश्चित करते हैं। अपने लक्ष्य को पाने के लए जितने भी कार्यक्रम बनाते हैं – वे विज्ञान की उपलब्धि हैं।

सभी मानव में ज्ञान, विवेक और विज्ञान की समझ को अथवा स्वयं की विचार शक्ति को 'प्रतिभा' भी कहते हैं। प्रतिभा का अर्थ समझदारी ही है। मानव अपनी प्रतिभा या समझदारी के आधार पर ही अपने कार्य करते हैं, अन्य मानव के साथ व्यवहार करते हैं तथा समाज और परिवार व्यवस्था में भागीदारी करते हैं। प्रभावशाली व्यक्तित्व से यही तात्पर्य है कि अपने कार्य को सुनियोजित

रूप में और श्रम सहित करते हैं, सबके साथ व्यवहार न्याय पूर्वक होता है और परिवार में व्यवस्था के लिए अपनी भागीदारी करते हैं। इस प्रकार प्रतिभा ही मानव के व्यक्तित्व का आधार है। मानव जितनी स्पष्टता से समझते हैं, उतने अच्छे से वे कार्य, व्यवहार और भागीदारी करते हैं।

सह–अस्तित्व ज्ञान के तीन आयाम हैं – जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान। जीवन ज्ञान के आयाम में इच्छा, विचार, आशा आदि अक्षय क्रिया को समझते हैं।

अस्तित्व दर्शन ज्ञान के आयाम में सत्ता (शून्य) में सम्पृकत प्रकृति को पदार्थ, प्राण, जीव और ज्ञान अवस्था के रूप में पहचानते हैं और उनके स्वभाव और धर्म को जानकर उनके साथ अपने संबंध को स्वीकारते हैं। मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान के आयाम में मानव के जीने के नियम को जानते हैं। संबंध में मूल्य पूर्वक जीने की विधि, हर वस्तु के सदुपयोग की नीति, कार्य–व्यवहार और जीने में चरित्र की महत्ता को जान पाते हैं।

सह–अस्तित्व को समझकर हमें यह स्पष्ट होता है कि मानव कैसे हैं, मानव का लक्ष्य क्या है और मानव को कैसे रहना है? मानव जीवन के रूप में अमर हैं अर्थात हर भौतिक और रासायनिक परिणाम से मुक्त हैं। इसके साथ–साथ यह भी पहचानते हैं कि मानव, मात्र शरीर नहीं है। मानव जीवन और शरीर का संयुक्त रूप है। शरीर और उसकी क्रियाएँ सामयिक हैं अर्थात भौतिक और रासायनिक परणािम से मुक्त नहीं हैं।

बौद्धिक, सामाजिक और प्राकृतिक नियम की पहचान; जीवन का अमरत्व, शरीर का नश्वरत्व और व्यवहार के नियम की समझ; साथ–साथ लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय और सह–अस्तित्व की पहचान – यह विवेक है।

ज्ञान पूर्वक निश्चित किए हुए लक्ष्य को कैसे पूरा करें – इस सोच–विचार को विज्ञान कहते हैं। समाधान, समृद्धि, अभय और सह–अस्तित्व मानव लक्ष्य है, जो बदलता नहीं और इसकी पूर्ति के लिए विज्ञान के तीन आयाम को समझते हैं।

पहले आयाम को 'क्रियावादी विज्ञान' कहते हैं अर्थात समाधान, समृद्धि, अभय और सह–अस्तित्व के लक्ष्य को पूरा करने की क्रिया, प्रक्रिया क्या होगी। विज्ञान का दूसरा आयाम 'कालवादी विज्ञान' है जिसमें जो भी क्रिया, प्रक्रिया है – वह कितने समय में पूरी होगी, इसमें स्पष्टता पाने का प्रयास करते हैं। विज्ञान का तीसरा आयाम है – 'निर्णय वादी विज्ञान' – अर्थात

लक्ष्य के अर्थ में जो भी करना है वह पूरा हो सकता है कि नहीं? इस बात की स्पष्टता। इस प्रकार क्रिया, काल और निर्णय के साथ लक्ष्य को पूरा करने की दिशा मिलती है। यह विज्ञान है।

ज्ञान, विवेक और विज्ञान अविभाज्य हैं और यही समझदारी है। इसमें स्पष्टता के आधार पर ही प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन हो पाता है।

अभ्यास व अध्ययन

1. विवेक किसे कहते हैं?
2. विज्ञान किसे कहते हैं?
3. प्रतिभा ओर व्यक्तित्व किसे कहते हैं?
4. हमारे व्यक्तित्व का क्या आधार है?
5. ज्ञान क्या है?
6. जीवन ज्ञान क्या है?
7. अस्तित्व दर्शन ज्ञान क्या है?
8. मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान क्या है?
9. विज्ञान के आयामों को स्पष्ट कीजिए।

पाठ–20

शरीर–व्यवस्था

मानव–शरीर रक्त, मांस–पेशियों, हड्डियों से बना है। शरीर को स्वस्थ बनाऐ रखने के लिए रक्त लगातार (चौबिसो घंटे) शरीर में घूमता रहता है, शरीर के अवयव को पुष्ट करता रहता है और शरीर को चलने–फिरने और कार्य करने की ऊर्जा देता है। इस प्रक्रिया में शरीर का रक्त क्षय होता है। हर समय शरीर में कम से कम चार से पाँच लीटर रक्त की आवश्यकता होती है। इस मात्रा को बनाऐ रखने के लिए और रक्त को पोषक–तत्व युक्त रखने के लिए मानव भोजन करता है। भोजन शरीर के लिए अनुकूल आहार है। अनुकूल आहार का तात्पर्य है वह आहार जो शरीर में आसानी से पच जाऐ।

भोजन मुँह, पेट और आँतों के सहयोग से शरीर में पचता है और उसके पोषक तत्वों से रक्त पुष्ट होता है और शरीर को ऊर्जा मिलती है। जो चीज़ें शरीर में नहीं पचती, वे धीरे–धीरे मलाशय में जमा होकर शरीर से बाहर निकल जाती है। इसी को हम आम भाषा में पेट की सफाई कहते हैं। यह सफाई न होने पर वह बचा हुआ भोजन शरीर में सड़ता रहता है और रक्त में गंदगी फैलाकर शरीर को रोगी बना देता है। रोग होने पर शरीर को आराम की आवश्यकता होती है क्योंकि शरीर की ऊर्जा उसे ठीक (व्यवस्थित) करने में लग जाती है। शरीर अपनी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अन्य प्रकार से गंदगी को शरीर से बहार निकालता है – मल–मूत्र, उल्टी, बुखार, दस्त, इत्यादि। शरीर खराब होने पर हल्का भोजन लेते है क्योंकि पाचन क्रिया के लिए शरीर की अधिक ऊर्जा का उपयोग होता है।

सही पाचन उसे कहते हैं जब पेट और आँतों में भोजन पचने के बाद, जो रस बनता है, वह शरीर के लिए अनुकूल हो। अनुकूल रस वही है जो रक्त में मिलकर शरीर को पोषण देता है। पोषण न मिलने पर हमें यह दिखता है कि जो रस पाचन से बना है, वह शरीर के लिए प्रतिकूल है। यह रस प्रतिकूल तब होता है जब पाचन सही नहीं होता। शरीर में सही पाचन न होने का कारण आहार में मिलावट (अशुद्धता) या शरीर में रस ग्रंथियों का असंतुलन है। रस ग्रंथियाँ पाचन में सहयोग करती हैं और शरीर की आवश्यकता अनुसार पाचक रस को उपलब्ध कराती हैं। ये

समय पर उपलब्ध न हो या किसी समय कम या ज़्यादा उपलब्ध हो, तो पाचन बिगड़ जाता है।

पाचन क्रिया में पहले भोजन को हाथ से तोड़कर या चुनकर मुँह में चबाते हैं। चबाने के बाद वह छोटे टुकड़ों में आहार नली के द्वारा पेट में जाता है। पेट में विधिवत रस ग्रंथि से निकले अम्ल से भोजन गूदा जैसा बनकर छोटी आँत में जाता है। छोटी आँत में, गूदा पहुँचने पर, यकृत और अग्नाशय से पाचक रस निकलते हैं, जो भोजन को और छोटे टुकड़ों में तोड़ते हैं और रसीला बनाते हैं। यह पाचक रस अक्सर भारी भोजन (पुरी, हलवा, इत्यादि) खाने पर ज़्यादा प्रयोग होता है। छोटी आँत में मुख्य रूप से दो कार्य होते हैं – भोजन का रसीला बनना और उनमें पोषक तत्व रक्त में मिलना। यह दोनों कार्य छोटी आँत की लंबाई और उनकी पतली मांस–पेशियों के कारण संभव है। यह पोषित रक्त यकृत में जाता है, जहाँ निश्चित मात्रा में पोषक तत्व जमा होते हैं और आवश्यकता अनुसार शरीर की वृद्धि और ऊर्जा के लिए प्रयोग होते हैं।

इस तरह छोटी आँत अपने में व्यवस्था है – जहाँ आहार रसीला होता है और उससे प्राप्त पोषक तत्व रक्त में मिलते हैं। इसके पश्चात, क्रमिक रूप से यह रस बड़ी आँत में आता है। यहाँ पर प्रधान रूप से शरीर में मलोत्सर्जन का कार्य होता है। साथ ही, बड़ी आँत शरीर के पोषण के अर्थ में पानी और खनिज ग्रहण करती हैं। जो भोजन शरीर पचा नहीं पाता, वह बड़ी आँत द्वारा मलाशय में जमा होकर, मल के रूप में शरीर से बाहर निकलता है।

मल, शरीर से, नियम अनुसार निकलता है। पेट की सफाई (यानि मलोत्सर्जन) सुबह होती है। रहन–सहन से यह नियम बदल या बिगड़ सकता है। देर से खाने और सोने से पेट की सफाई सुबह नहीं हो पाती। देर से उठने पर शरीर की सफाई का सही समय बीत जाता है और पूरा पाचन गड़बड़ा जाता है। कुछ सीमा तक, श्रमशील मानव का शरीर, यह अव्यवस्था सह पाता है। परंतु शरीर इस अव्यवस्था में ज़्यादा देर तक टिक नहीं पाता क्योंकि उसकी उम्र के साथ–साथ, उसकी स्वयं स्फूर्त विधि से मरम्मत हो पाना भी कमज़ोर पड़ जाती है।

मुँह से भोजन खाने से लेकर मलाशय से निकलने तक लगभग चौबीस घंटे लगते हैं। भोजन के पचने से शरीर को ऊर्जा मिलती है। इस ऊर्जा से शरीर कार्य करता है। इस ऊर्जा के लिए समय–समय पर शरीर को भोजन की आवश्यकता होती है। भूख लगने पर शरीर को भोजन की आवश्यकता होती है। भूख लगने के लिए भोजन के बीच में कम से कम 4 से 5 घंटे का समय चाहिए और साथ ही शरीर को श्रम, व्यायाम चाहिए। श्रम और व्यायाम से हृदय की धड़कन तेज़

होती है जिससे शरीर में रक्त संचार बढ़ता है। शरीर के अवयव में रक्त और तेज़ी से पहुँचता है जिससे पाचन के लिए और ऊर्जा मिलती है। श्रम, व्यायाम, विहार क्यों–कब–कैसे चाहिए, यह समझ हमारे जीवन में होती है। हमारे शरीर का पाचन, श्वसन, उत्सर्जन, रक्तसंचार और इसलिए शरीर का पोषण भी जीवन से नियंत्रित है। जीवन समझदार है तो शरीर की व्यवस्था बनाए रखता है।

शरीर की व्यवस्था के लिए शरीर और शरीर के अवयव के सामान्य ताप का बना रहना भी अनिवार्य है। ताप बिगड़ने पर पाचन प्रभावित (धीरे) होता है जिससे हमारे शरीर में अस्वस्थता पैदा होती है। इसलिए हम भोजन खाने के पहले नहाते हैं या भोजन खाने के बाद कम से कम दो घंटे तक नहाते नहीं है क्यों कि भोजन करने के पश्चात शरीर में पाचन क्रियाशील होता है। पाचन के समय पेट और आँतों का एक निश्चित ताप होता है जो नहाने पर बिगड़ता है और पाचन क्रिया धीमी हो जाती है।

शरीर में रक्त गर्म होता है। इस गर्मी से भी शरीर का ताप सामान्य बना रहता है। रक्त पूरे शरीर में घूमता है और शरीर और शरीर के अवयव का ताप नियंत्रित बनाकर रखता है। सर्दियां में हाथ–पैर ठंडे हो जाते हैं तो चल–फिरकर, व्यायाम करके या तेल की मालिश करके उन्हें गर्म कर लेते हैं। शरीर के हिलने–डूलने से शरीर में हृदय द्वारा रक्त संचार व्यवस्थित बना रहता है, जिससे रक्त हर अंग में पहुँच कर उन्हें गर्म रखता है। व्यायाम न करने पर या शरीर को चुस्त न रखने पर रक्तसंचार प्रभावित होता है और शरीर या उसके कुछ अंग ठंडे रहते हैं (जैसे हाथ, पैर, टांगे) जिससे कुछ समय बाद शरीर या उन अंगों में दर्द शुरू हो जाता है।

शरीर का ताप, सांस अंदर–बाहर लेने से भी सामान्य बना रहता है। मानव, नाक से हवा अंदर लेते हैं। हवा, नाक और नाक की नली में शुद्ध होते हुए फेफड़ों में पहुँचती है। यह रक्त द्वारा रक्तसंचार विधि से सभी अंग–अवयव तक पहुँचकर उन्हें पोषित करती है। फेफड़ें शुद्ध वायु अंदर लेते हैं और शरीर में अशुद्धता को बाहर नाक से निकालते हैं। इस प्रक्रिया से शरीर में ऊष्मा बनी रहती है जिससे शरीर का ताप निश्चित होता है। इस तरह सांस से शरीर में ऊष्मा बनी रहती है, ऊष्मा से ताप बना रहता है, ताप से पाचन संभव होता है, पाचन से शरीर में रस बनता है, रस से रक्त बनता है, रक्त से शरीर को पोषण मिलता है, पोषण से शरीर स्वस्थ रहता है, स्वस्थ शरीर व्यवस्थापूर्वक फेफड़ों से सांस लेता है। यह आवर्तनशील क्रिया शरीर में नियमित और क्रमिक रूप से चलती है। इसलिए शरीर एक व्यवस्था है। यह सभी तंत्र और अवयव का अपने में तालमेल है।

अपने शरीर को छूने पर हम शरीर के ताप को आंक पाते हैं। बुखार होने पर शरीर का ताप बढ़ जाता है जो हमें अपने आप को छूकर भी पता चलता है। स्पर्श (और अन्य सामग्रियों) का संकेत हमें मेधस के ज्ञानवाही तंत्र द्वारा मिलता है। इन संकेतों को पहचानने वाला जीवन है। इसलिए मेधस तंत्र जीवन और शरीर के बीच में संकेतों के आदान–प्रदान का माध्यम है। जीवन अपनी समझ के अनुसार शरीर के संकेत को पहचानते हुए निर्णय लेता है। समाधानित व्यक्ति शरीर के संकेत को स्वास्थ्य के अर्थ में पहचानता है और शरीर के साथ सही से निर्वाह करता है। शरीर अपने में एक व्यवस्था है और मानव के कार्य–कलाप से ही यह व्यवस्था बनी रहती है या बिगड़ती है। समझ से संचालित होने पर मानव (जीवन) शरीर की व्यवस्था भी समझता है और स्वस्थ रहता है। मानव (जीवन) शरीर की व्यवस्था नहीं समझता है तो अशुद्ध आहार का सेवन करता है, समय पर निद्रा नहीं करता, बिना भूख भोजन करता है या शरीर से श्रम, व्यायाम नहीं करता है। इन सबसे पाचन एवं अन्य क्रिया प्रभवित होती हैं और शरीर अस्वस्थ होता है। इसलिए स्वस्थ शरीर के लिए स्वस्थ मन (जीवन) भी आवश्यक है।

अभ्यास व अध्याय

1. हमारा शरीर सामान्य रूप से रोगी कैसे हो जाता है?
2. शरीर में पाचन क्रिया को विस्तार से स्पष्ट कीजिए।
3. पाचन क्रिया में मेधस तंत्र की भूमिका क्या है?
4. शरीर की व्यवस्था बनाए रखने में श्रम, व्यायाम, विहार कैसे उपयोगी हैं?
5. भोजन के बाद तुरंत क्यों नहीं नहाना चाहिए?
6. हमारे शरीर का ताप हर ऋतु में कैसे सामान्य बना रहता है?
7. हमारी समझ और शरीर की व्यवस्था का संबंध स्पष्ट कीजिए।

गतिविधियाँ

1. हर बच्चा प्रतिदिन तरह–तरह के श्रम, व्यायाम, विहार करता है, इस पर बच्चों से बातचीत कीजिए।
2. हर बच्चे के भोजन करने की आदतों पर चर्चा करें। पाठ में मुद्दों के अनुसार उन आदतों को ठीक करने की सूचना उन तक पहुँचाइए।

पाठ–21

श्रम एवं विहार

मानव अपने शरीर के स्वास्थ्य के लिए आहार से उसका पोषण करता है और श्रम और विहार से उसे पुष्ट करता है। शरीर के स्वास्थ्य के लिए, आहार के अलावा, जो मानव दिन–भर क्रियाकलाप करता है उसे विहार कहते हैं। व्यायाम, विश्राम, निद्रा, दौड़ना, खेलना, नहाना, सफाई; विहार का भाग हैं। मानव का वस्त्र पहनना, अपने शरीर की स्वच्छता बनाए रखना इत्यादि भी विहार का भाग हैं। सही आहार और विहार से जागृत मानव अपने शरीर की व्यवस्था को संतुलित रखता है।

स्वस्थ शरीर से जागृत मानव श्रम करता है और श्रम द्वारा उसे और मज़बूत बनाता है। प्रकृति पर श्रम करके वह उत्पादन करता है। इस उत्पादन से जागृत मानव परिवार के शरीर की आवश्यकता को पूरी करता है। कृषि, पशुपालन, घर बनाना, टेबल–कुर्सी बनाना, सड़क बनाना जैसे श्रम से मानव के शरीर में पसीना आता है। पसीने से शरीर की गन्दगी बाहर निकलती है। इसलिए पसीना निकलने पर मानव नहाकर शरीर को स्वच्छ रखता है। श्रम से मानव के शरीर की माँस–पेशियाँ के पुष्ट होने से उसका रक्तसंचार व्यवस्थित रहता है और इससे उसका पाचन और अन्य तंत्र मज़बूत बने रहते हैं। इसके सहयोग से मानव के शरीर की सफाई समय पर और ढ़ंग से होती है। उसके शरीर का सामान्य ताप बना रहता है; उसका सर ठंडा रहता है, उसके तलवे और हथेली गर्म रहते हैं और पेट नर्म रहता है। श्रम से मानव के शरीर की कार्य–क्षमता बढ़ती है। इसलिए श्रम से अभ्यस्त शरीर की आयु अधिक होने पर भी मानव शरीर द्वारा कार्य करने के योग्य होता है।

श्रमपूर्वक सेवा से भी मानव अपने शरीर की व्यवस्था बनाए रखता है और दूसरे के शरीर का भी पोषण, संरक्षण करता है। बच्चों और बुजुर्गों के शरीर की मालिश से उनके शरीर को पुष्ट करता है। मानव, शरीर के अलावा, अन्य भौतिक वस्तुओं का संरक्षण करता है अर्थात सेवा–कार्य करना–जैसे घर की सफाई करना, कपड़े धोना, यंत्रों की मरम्मत करना। इन सभी कार्यों से शरीर के अन्य अंगों की कसरत होती है और शरीर के सभी तंत्र मज़बूत होते हैं, जिससे पेट की

सफाई भी आसानी से होती है। इसलिए श्रमपूर्वक उत्पादन और सेवा से मानव के शरीर में स्फूर्ती बनी रहती है।

श्रम के साथ–साथ शरीर को विश्राम की भी आवश्यकता है। पर्याप्त श्रम से शरीर थकता है और थकने के पश्चात शरीर को आराम की आवश्यकता होती है। आराम के पश्चात वह शरीर से और कार्य करने के लिए तैयार होता है। इस श्रम और विश्राम के संतुलन से शरीर पुष्ट होता है और उससे कार्य और सेवा करने की क्षमता बढ़ती है। विश्राम, विहार का, एक महत्वपूर्ण भाग है। विश्राम के लिए मानव लेटता है, निद्रा करता है, टहलता है, व्यायाम करता है, खेलता है। मानव के दिन चर्या में वह झुककर, खड़े होकर, बैठकर कार्य करता है। वह कुछ समय व्यायाम भी करता है। व्यायाम से वह अपनी माँस–पेशियाँ पुष्ट करता है और शरीर की झुकने और खड़े होने की क्षमता बढ़ाता है। साथ ही, व्यायाम से वह अपने शरीर के उन अंगों को आराम देता है, जिनका उसके कार्य में अधिक प्रयोग होता है। जैसे वह झुककर अनाज बोता है तो वह व्यायाम में अपनी कमर को विशेष रूप से ध्यान देता है। उसको विपरीत दिशा में झुकाता है ताकि उसकी कमर की माँस–पेशियों में जकड़न न आए और दर्द न पैदा हो पाए। इस तरह शरीर को आराम मिलने पर मानव अपने कार्य, ऊर्जा के साथ करता है।

स्वस्थ शरीर के लिए अपने शरीर की स्वच्छता बनाए रखना आवश्यक है। प्रातः काल में अपना पेट साफ़ करना, मुँह को पानी से धोना, आँखों में पानी छिड़कना, नाक को साफ़ करना, दाँतों और मसूड़ों की मालिश और सफाई दातुन या नर्म ब्रश से करना आवश्यक है। इन सबकी लगातार सफाई के साथ–साथ अपने बालों और नाखून की भी सफाई आवश्यक है। अपने बालों को नियमित रूप से धोना ताकि उसमें पसीना या मैल न जम पाए। अपने बालों में तेल लगाकर उनको पोषित करना और समय–समय पर उनको काटना। अपने नाखून लम्बे होने पर काटना ताकि उनमें मैल न फँसे। भोजन करते समय, यह फंसी मैल पेट में जाकर अस्वस्थता पैदा करती है। इसलिए भोजन करने से पहले हाथ धोना भी आवश्यक है।

इस प्रकार शरीर की अंदरूनी और बाहरी सफाई, दोनों मानव के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। साथ ही, शरीर के स्वास्थ्य के लिए अनुकूल वस्त्र, मकान भी अनिवार्य है। गर्मियों में हल्के रंग के सूती या खादी कपड़े पहनने से शरीर को हवा लगती रहती है और शरीर को तेज़ गर्मी नहीं लगती। सर्दियों में ऊनी कपड़ा पहनने से बाहर की ठंडी हवा शरीर को नहीं लगती और

शरीर गर्म रहता है। घर मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, स्लेट जैसी वस्तुओं से बना होने पर सर्दियों में वह गर्म और गर्मियों में वह ठंडा रहता है और इस तरह शरीर के लिए हर ऋतु में अनुकूल रहता है।

इस तरह सही विहार और श्रम सहित मानव का शरीर स्वस्थ रहता है। सही विहार और श्रम के लिए शरीर की आवश्यकता को पहचानना और शरीर की व्यवस्था को समझना अनिवार्य है। इसलिए मानव ज्ञान से संचालित है और अपने शरीर को सही आहार, विहार और श्रम से स्वस्थ रखता है। अजागृत मानव, नासमझी में, आहार केवल स्वाद के अर्थ में खाता है और साथ ही, विहार और श्रम के महत्त्व को पहचानने के अभाव में वह शरीर को अस्वस्थ कर देता है।

अभ्यास व अध्ययन

1. विहार किसे कहते हैं? उदाहरणों सहित स्पष्ट कीजिए।
2. व्यायाम करने से क्या–क्या होता है?
3. मौसम अनुसार पहनावा किस तरह का हो?
4. शारीरिक श्रम/सेवा क्यों आवश्यक है?

गतिविधि

(शिक्षक के लिए) अपने परिवारों में श्रमपूर्वक उत्पादन में किस तरह हर छात्र/छात्रा सहभागी है, इस पर चर्चा करें।

पाठ–22

मानवीय उत्पादन–कार्य

मानवीय व्यवस्था में उत्पादन–कार्य एक अनिवार्य आयाम है। मानव की आवश्यकता को पूरा करने का यह एक मात्र कार्यक्रम है। आवश्यक उत्पादन को पहचानना, इसका प्रथम चरण है। यदि आवश्यक उत्पादनों की पहचान न हो सके तो अनुपयोगी वस्तुओं का उत्पादन होता है। अनुपयोगी वस्तुओं के उत्पादनों से मानव समाज की क्षति होती है, उत्पादन के लिए किया गया श्रम भी व्यर्थ होता है।

प्रत्येक उत्पादित वस्तु में 2 प्रकार के मूल्य होते हैं।

1. उपयोगिता मूल्य एवं

2. कला मूल्य

1. उपयोगिता मूल्य – किसी बनी वस्तु में मानव की पूरकता होने योग्य संभावना को उपयोगिता मूल्य कहते हैं। यह पूरकता, मानव शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के अर्थ में एवं समाज गति के अर्थ में, पहचानी जाती है। जैसे आहार, वस्त्र, आवास की वस्तुएँ मानव शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। इसी प्रकार दूरश्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन की वस्तुएँ एवं शिक्षा–संस्कार प्रक्रिया में उपयोगी वस्तुएँ समाज गति में गिने जाते हैं। प्रत्येक उत्पादित वस्तु में उपयोगिता मूल्य का होना अनिवार्य है।

2. **कला मूल्य** – उपयोगिता मूल्य, प्रत्येक उत्पादित वस्तु में होता ही है। इसी के साथ, उपयोगिता का सहायक भाग एवं सुरक्षा करने वाला भाग, कला मूल्य कहलाता है। उदाहरण के लिए कलम एक उत्पादित वस्तु है। यह लिखने के काम में आता है। लिखने के लिए इसकी निप काम में आती है, स्याही से लिखा जाता है। परन्तु लिखने के लिए एक आवश्यक भाग है इसे ठीक से पकड़ने योग्य बनाना। यह कला मूल्य है। इसकी (निप की) सुरक्षा के लिए ढक्कन होता है। यह ढ़क्कन पेन की उपयोगिता में वृद्धि नहीं करता केवल सुरक्षा के लिए होता है। अतः ढक्कन कला मूल्य के लिए होता है। इसी के साथ ढक्कन में एक क्लिप होता है। इसे कमीज़ में फसाने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह भी कला मूल्य में गण्य है।

उपयोगिता विहिन कला मूल्य होना संभव नहीं है। क्योंकि कला मूल्य उपयोगिता का सहायक एवं संरक्षक होता है।

किसी प्राकृतिक एश्वर्य पर उपयोगिता मूल्य की स्थापना करना निपुणता कहलाता है एवं किसी प्राकृतिक वस्तु पर उपयोगिता एवं कला मूल्य की स्थापना करना कुशलता कहलाता है।

प्रत्येक उत्पादित वस्तु में उपयोगिता एंव कला मूल्य होता है। प्रत्येक प्राकृतिक ऐश्वर्य में पूरकता मूल्य होता है। श्रम के द्वारा प्राकृतिक ऐश्वर्य पर उपयोगिता व कला मूल्य की स्थापना की जाती है। श्रम का प्रयोग सेवा में भी होता है। उत्पादित वस्तु की सुरक्षा, टूट–फूट होने पर सुधार करना सेवा कहलाता है। सेवा भी श्रम के द्वारा होता है। सेवा के द्वारा उपयोगिता एवं कला मूल्य की स्थापना की जाती है। जैसे वस्त्र का उत्पादन किया जाता है। वस्त्र को उपयोग करते समय बार–बार धोना, सुखाना आवश्यक होता है। यह धोना–सुखाना सेवा कहलाता है। यह उपयोगिता मूल्य को बनाए रखने के उद्देश्य से किया जाता है।

आवर्तनशीलता : उत्पादन–कार्य में आवर्तनशीलता एक अनिवार्य भाग है। आवर्तनशीलता से ही किसी उत्पादन की उपलब्धता बनी रहती है। जैसे हमें प्रतिदिन आहार, जल, वस्त्र की आवश्यकता होती है। ये वस्तुएँ प्रतिदिन मिलती रहें, यह आवर्तनशीलता है। ये वस्तुएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती रहें, यह आवर्तनशीलता है। आवर्तनशील उत्पादन–कार्य ही मानवीय उत्पादन है। आवर्तनशीलता रहित उत्पादन–कार्य मानव परंपरा के लिए हानिकारक है। अतः इसे अमानवीय उत्पादन कहते हैं। आवर्तनशील उत्पादन में मुख्यतः तीन बिन्दु होते है।

1. उत्पादन की आवर्तनशीलता
2. श्रम की आवर्तनशीलता
3. ईंधन की आवर्तनशीलता

1. **उत्पादन की आवर्तनशीलता** : इसमें उन उत्पादनों की पहचान की जाती है जो आवर्तनशील होते हैं। इनका अभ्यास बनाकर रखा जाता है। जो उत्पादन आवर्तनशील नहीं होतें उनको पहचानकर विकल्प की योजना की जाती है। मुख्यतः खनिकर्म या खनन कार्य द्वारा जो खनिज प्राप्त किए जाते हैं वे आवर्तनशील नहीं होतें। धरती पर विभिन्न स्थान पर पत्थर चट्टाने पाये जाते हैं। वे सभी पूरकता विधि से धरती पर स्थापित हैं। जब भी खनन प्रक्रिया द्वारा उन्हें हटाया जाता है, वे कम होते जाते हैं एवं एक समय समाप्त हो जाते हैं।

2. **श्रम की आवर्तनशीलता** : प्रत्येक मनुष्य शरीर रचना में सीमित है। शरीर की आयु सीमित है एवं शरीर की शक्ति भी सीमित है। इसी शरीर द्वारा श्रम किया जाता है। प्रत्येक मनुष्य मुख्यतः युवावस्था में श्रम करता है। प्रौढ़ होने पर श्रम की मात्रा कम होती है। वृद्धावस्था में यह न्यूनतम या बंद हो जाता है। प्रत्येक पीढ़ी में श्रम करने योग्य युवा होते हैं। प्रशिक्षण एवं अभ्यास पूर्वक ये पूर्व पीढ़ी के स्थान पर कार्यरत हो जाते हैं। अतः प्रत्येक पीढ़ी में श्रम नियोजन करने योग्य व्यक्ति तैयार मिलते हैं। यह श्रम की आवर्तनशीलता है। इसके लिए 2 चरण होते हैं। प्रथम है, शरीर को स्वस्थ एवं श्रम करने योग्य सबल बनाना एवं द्वितीय चरण में किसी उत्पादन–कार्य में या सेवा–कार्य में भागीदारी करते हुए प्रशिक्षण एवं अभ्यास करना।

प्रथम चरण में शरीर को सबल एवं स्वस्थ बनाने के लिए दौड़, खेल–कूद, तैरना, व्यायाम उपयोगी होते हैं। इसके लिए बाल्यकाल से ही अवसर एवं प्रशिक्षण उपलब्ध कराया जाता है।

द्वितीय चरण में प्रशिक्षण एवं अभ्यास किया जाता है। यह किसी उत्पादन या सेवा–कार्य में भागीदारी करते हुए ही सफल होता है। मानवीय व्यवस्था में प्रत्येक परिवार उत्पादन में भागीदारी करते हैं एवं प्रत्येक परिवार में सेवा–कार्य होता रहता है। शिशु काल से ही इन्हें देखने–पहचानने का अवसर रहता है। इन कार्यों में अभिभावकों की निष्ठा एवं तत्परता को समझते हुए शिशु काल से ही इन्हें श्रेष्ठ कार्य के रूप में स्वीकारना एवं इस योग्य बनने की चाहत पैदा हो जाती है।

3. **ईंधन की आवर्तनशीलता** : ईंधन मानव–श्रम एवं पशु–श्रम के विकल्प रूप में प्रचलित है।

यह उष्मा का महत्वपूर्ण श्रोत भी है। प्रतिदिन भोजन पकाने में उष्मा का उपयोग होता है। उष्मा से कपड़े इस्त्री करने जैसे सामान्य कार्य भी होते हैं। ईंधन से प्रकाश, विद्युत, ध्वनि, चुम्बकीय बल एवं यंत्र चालन जैसे कार्य होते हैं।

मानवीय व्यवस्था मे ईंधन की आवर्तनशीलता एक अनिवार्य भाग है। ईंधन के आवर्तनशील स्रोतों में सूर्य उष्मा, जल प्रपात, जल प्रवाह, वायु तरंग (प्रवाह) हैं। वनस्पति से प्राप्त होने वाले ईंधन जैसे लकड़ी, सूखे पत्ते, वनस्पति तेल भी ईंधन के आवर्तनशील स्रोत हैं – ये धरती की सतह पर उगते हैं एवं वृद्धि प्राप्त करते हैं।

भूमिगत स्रोतों से प्राप्त होने वाला ईंधन जैसे कोयला, खनिज तेल एवं विकिरणीय वस्तएँ, आवर्तनशील स्रोत नहीं हैं।

आवर्तनशीलता रहित स्रोत की निरंतरता नहीं होती। ये अभाव की मानसिकता से उपयोग में लाए जाते हैं। धरती की सतह पर प्रदूषण के लिए ये मुख्य स्रोत हैं। इन स्रोतों से होने वाले प्रदूषण दीर्घकालीन होते हैं। इसकी अवधि सैकड़ों वर्षों की होती है।

आवर्तनशील ईंधन प्रक्रिया धरती के पूरक होते हैं। ये मानव के लिए निरंतर प्राप्य हैं। मानव की समृद्धि के लिए आवर्तनशील ईंधन स्रोत अनिवार्य हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. उपयोगिता मूल्य किसे कहते हैं?
2. कला मूल्य किसे कहते हैं?
3. वस्तु मूल्य कौन से हैं?
4. निपुणता और कुशलता क्या है?
5. आवर्तनशीलता क्या है?
6. उत्पादन में आवर्तनशीलता किस तरह बनाए रखते हैं?
7. श्रम में आवर्तनशीलता किस तरह होती है?
8. ईंधन की आवर्तनशीलता किस तरह होती है? वो क्यों आवश्यक है?

पाठ–23

मानवीय विनिमय–कोष

मानवीय व्यवस्था की मूल इकाई परिवार व्यवस्था है। परिवार व्यवस्था में उत्पादन, विनिमय–कोष एवं न्याय–सुरक्षा; ये तीन कार्यक्रम होते ही हैं।

मानवीय व्यवस्था में दस सोपान होते हैं – परिवार व्यवस्था से विश्व परिवार व्यवस्था तक। जिस सोपान में उत्पादन–कार्य होता है, वही सोपान विनिमय–कार्य में भागीदारी करता है एवं एक कोष की व्यवस्था रखता है। अपने आवश्यकता की वस्तु को कोष कहते हैं। अपने आवश्यकता से अधिक वस्तु का विनिमय किया जाता है।

जैसे एक परिवार गेहूँ का उत्पादन करता है। गेंहूँ वर्ष में एक बार ही पैदा होता है। अतः वर्ष भर की अपनी आवश्यकता का गेहूँ रख लेना कोष कहलाता है। इस प्रकार अनेक वस्तुओं का कोष अनिवार्य होता है। कौन–कौन से वस्तुओं का कोष होना है, कोष की मात्रा कितनी होनी है एवं किस सोपान में कितना कोष होना है – यह आवश्यकता एवं उत्पादन के आधार पर निश्चित होता है। कोष, समृद्धि के लिए अनिवार्य भाग है।

कोष से अधिक में वस्तु का विनिमय किया जाता है। विनिमय का अर्थ है एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु प्राप्त करना। इसमें दोनों प्रकार की संभावनाएँ होती हैं।

1. प्रत्यक्ष वस्तु विनिमय
2. प्रतीक द्वारा वस्तु विनिमय

एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु लेना प्रत्यक्ष वस्तु विनिमय कहलाता है तथा एक वस्तु देकर कोई प्रतीक मुद्रा जैसे स्वर्ण, रजत मुद्रा, अन्य धातु मुद्रा या पत्र मुद्रा प्राप्त करना प्रतीक द्वारा वस्तु विनिमय कहलाता है। अर्थात् आवश्यकता के समय प्रतीक मुद्रा देकर उपयोग की वस्तु प्राप्त कर लेना। अंततः प्रत्यक्ष या प्रतीक द्वारा वस्तु का लेन–देन ही विनिमय है। एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु न ली जाए–यह विनिमय नहीं होता। आजकल कई प्रकार के प्रतीक मूल्य प्रचलित है। जैसे रूपया, पैसा, डालर, यूरो आदि।

मानवीय विनिमय का आधार मूल्यांकन प्रक्रिया है। प्रत्येक वस्तु का मूल्य आँका जाता है एवं इस मूल्य के आधार पर विनिमय क्रिया की जाती है। यदि मूल्यांकन प्रक्रिया में त्रुटि होती है तो विनिमय प्रक्रिया में भी त्रुटि हो जाती है। तथा विनिमय में भागीदार दोनों पक्षों को तृप्ति नहीं मिलती। विनिमय का उद्देश्य व्यवस्था में भागीदारी करना एवं इस प्रक्रिया में शामिल सभी पक्षों की तृप्ति होना है। विनिमय प्रक्रिया में लाभ–हानि रहित हो जाना ही दोनों पक्ष की संतुष्टि है। लाभ–हानि का आधार वस्तु की मूल्यांकन प्रक्रिया है।

किसी भी वस्तु के उत्पादन में 5 भाग होते हैं।

1. प्राकृतिक एश्वर्य 2. उपकरण 3. श्रम 4. समय 5. निपुणता एंव कुशलता।

इन 5 भागों के संयोग होने पर ही उत्पादन हो पाता है।

1. **प्राकृतिक ऐश्वर्य** : इसमें पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था एवं जीव अवस्था की वस्तुएँ आती हैं। इन्हें मनुष्येत्तर प्रकृति कहते हैं। उत्पादन का आधार प्राकृतिक ऐश्वर्य ही है। इनके बिना उत्पादन संभव ही नहीं है। उदाहरण के लिए मिट्टी पदार्थावस्था की इकाई है। इससे ईंट बनाया जाता है; खपरे, घड़े, अन्य बर्तन बनते हैं। लोहे, ताम्बे, पीतल के बर्तन भी पदार्थ अवस्था से ही बनते हैं। प्राणावस्था की वस्तुएँ अन्न, फल, तरकारी, लकड़ी एवं तेल आदि होते हैं। जीवावस्था मे पशुपालन द्वारा दूध, ऊन जैसी वस्तुएँ प्राप्त की जाती है।

2. **उपकरण** : उत्पादन के लिए अनेक प्रकार के वस्तुओं की आवश्यकता होती है। जैसे मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए लकड़ी के चक्के का प्रयोग होता है। यह चक्का उपकरण कहलाता है। इसी प्रकार ईंट बनाने के लिए साँचे का प्रयोग होता है। यह सांचा उपकरण कहलाता है। मिट्टी सानने के लिए, पानी ढोने एवं रखने के लिए पात्र की आवश्यकता होती है। यह पात्र भी उपकरण कहलाता है। मूल रूप से सभी उपकरण उत्पादन ही हैं। ये प्राकृतिक ऐश्वर्य से बनाए जाते हैं। इस प्रकार सभी उपकरण भी प्राकृतिक ऐश्वर्य एवं श्रम का संयोग है।

3. **श्रम** : प्रत्येक उत्पादन के लिए श्रम अनिवार्य है। श्रम के बिना उत्पादन–कार्य संभव नहीं है।

4. **समय** : उत्पाद के निर्माण में कुछ समय लगता है। इस अवधि में श्रम एवं देखभाल की आवश्यकता होती है। इस प्रकार समय, श्रम के साथ जुड़ा रहता है।

5. **निपुणता एवं कुशलता** : किसी उत्पादन–कार्य को बार–बार करने पर वह उत्पाद कम समय में होने लगता है या एक निश्चित अवधि में अधिक मात्रा में उत्पादन होता है। बार–बार करने पर गुणवत्ता में भी सुधार होता है। इस प्रकार जीवन शक्तियों को बार–बार प्राकृतिक एश्वर्य पर नियोजन करना–निपुणता एंव कुशलता कहलाता है। यह श्रम एवं समय के संयोग में प्रकट होता है।

इस प्रकार हमें समझ में आता है कि मूलतः 2 प्रकार की वस्तुएँ उत्पादन के लिए अनिवार्य हैं– प्रथम है, प्राकृतिक ऐश्वर्य एवं द्वितीय है, श्रम–समय का संयोग। उत्पादित वस्तु के मूल्यांकन के लिए इन्हीं दो वस्तु प्राकृतिक ऐश्वर्य एवं श्रम–समय को आधार माना जाता है।

उत्पादित वस्तु में चार प्रकार के मूल्यों को पहचाना जाता है –

1. उपयोगिता मूल्य
2. उपभोग मूल्य
3. श्रम मूल्य
4. प्रतीक मूल्य

इन्ही मूल्यों के आधार पर लाभ–हानि युक्त या लाभ–हानि मुक्त विनिमय होता है। लाभ–हानि युक्त विनिमय मानव के लिए अतृप्तिदायक होने के कारण मानवीय व्यवस्था में वर्जित है। उपभोग मूल्य आधार पर लाभ–हानि मुक्त विनिमय की संभावना न्यूनतम है क्योंकि उपभोग मूल्य बहुत तेज़ी से बदलता है।

अभ्यास व अध्ययन

1. कोष किसे कहते हैं? वह क्यों ज़रूरी है?
2. विनिमय का क्या अर्थ है? इसमें कौन से प्रकारों की संभावनाएँ हैं?
3. वस्तु–उत्पादन के कितने भाग होते हैं? कौन से?
4. प्राकृतिक ऐश्वर्य, उपकरण एवं निपुणता, कुशलता को स्पष्ट कीजिए।
5. उत्पादित वस्तु में कौन से मूल्यों को पहचाना जाता है?

पाठ–24

न्याय–सुरक्षा

प्रत्येक मानव, न्यूनतम परिवार व्यवस्था में जीता ही है। परिवार ही सबसे छोटी व्यवस्था है एवं अधिक से अधिक विश्व परिवार व्यवस्था में भागीदारी करते हुए जीता है।

परिवार व्यवस्था में जीते समय मुख्यतः 3 प्रकार के कार्य करता है –

1. उत्पादन में भागीदारी

2. सेवा–कार्य में भागीदारी

3. सम्बन्धों का निर्वाह एवं परिवार व्यवस्था में भागीदारी।

सम्बन्धों का निर्वाह एवं परिवार व्यवस्था में भागीदारी निरंतर होती है। इसमें बौद्धिक पक्ष प्रमुख रहता है। अर्थात इन कार्यक्रमों को पूरा करने की स्वीकृति प्रमुख है। उत्पादन एवं सेवा–कार्य आवश्यकता के समय किए जाते हैं। इनमें से प्रथम दो कार्यों को संयुक्त रूप में कर्तव्य कहा जाता है। परिवार व्यवस्था में भागीदारी एवं सम्बन्धों का निर्वाह दायित्व कहलाता है।

परिवार व्यवस्था में उत्पादन एवं सेवा अनिवार्य कार्यक्रम हैं। सभी मिलकर परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन करते हैं। आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं। परिवार की आय सभी की सम्मिलिति आय होती है। कोई व्यक्ति अस्वस्थ्य होने पर उससे उत्पादन या सेवा की अपेक्षा नहीं की जाती है। अपितु, उस व्यक्ति की सेवा की जाती है। जब तक स्वस्थ न हो जाए – यही स्थिति बनी रहती है। शिशुओं से भी उत्पदन एवं सेवा में भागीदारी की अपेक्षा नहीं होती, न ही वृद्धों से ऐसी अपेक्षा की जाती है। परिवार के सेवा का प्रमुख भाग वृद्ध एवं शिशुओं को समर्पित रहता है। इस प्रकार की स्वीकृति के साथ जीना दायित्व कहलाता है।

परिवार व्यवस्था में शिशुओं को स्वास्थ्य–संरक्षण का अभ्यास, स्वच्छता की पहचान एवं महत्व, परिवार व्यवस्था का महत्व समझाना एक अनिवार्य कार्यक्रम है। इसी के साथ सम्बन्धों की

पहचान, शिष्टतापूर्ण आचरण की स्वीकृति भी परिवार में जीते समय ही होती है। इसके लिए अनुकूल समय शैशव अवस्था ही है। शिशुओं को इस प्रकार का वातावरण एवं मार्गदर्शन उपलब्ध कराना दायित्व कहलाता है।

इस प्रकार प्रत्येक समझदार मानव कर्तव्य व दायित्व का निर्वाह करता है। यही व्यवस्था में भागीदारी है। परिवार व्यवस्था में भागीदारी करना भी कर्तव्य व दायित्व का निर्वाह करना है एवं विश्व व्यवस्था में भागीदारी करना भी कर्तव्य व दायित्व का निर्वाह करना होता है। किसी भी स्तर पर दायित्व का निर्वाह तृप्ति के लिए किया जाता है, इसमें प्रतिफल की अपेक्षा बिलकुल भी नहीं होती। माता–पिता, संतान का पालन–पोषण करते हैं, यह दायित्व निर्वाह है। इसमें माता–पिता को किसी भी प्रकार के भौतिक वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। संतान समझदार होकर सुखी हो जाए – यह अपेक्षा रहती है। परिवार के बाहर परिवार से बड़ी व्यवस्था में भागीदारी पूर्णतः दायित्व का निर्वाह है। इसमें प्रतिफल की अपेक्षा नहीं रहती। दायित्व का निर्वाह उपकार–कार्य कहलाता है। उपकार, मानव परंपरा को बनाए रखने में स्वयं की भागीदारी है। आज हम जिस स्थान पर जीते हैं वहाँ हमारे शरीर के लिए अनेक सुविधाएँ हैं – जैसे मकान, वस्त्र, आदि। भोजन की पहचान, महत्वाकांक्षा के अनेक उपकरण, अनेक प्रकार की औषधियाँ। ये सभी वस्तुएँ हमने नहीं बनाई। हमने इनका आविष्कार भी नहीं किया। ये सभी वस्तुएँ आज से 50 वर्ष या सैकड़ों–हजारों पूर्व खोजी गईं। खोजने के उपरान्त ये वस्तुएँ मानव परंपरा का अंग बन गईं। इस प्रकार से मानव परंपरा धीरे–धीर श्रेष्ठता की ओर बढ़ रही है। हम आज जो भाषा बोलते हैं, लिखते हैं वह भी हमारा आविष्कार नहीं है। अनेक मनुष्यों ने कई वर्षों तक एवं पीढ़ी से पीढ़ी इस पर कार्य किया। सैकड़ों वर्ष के परिश्रम के बाद भाषा की रचना हुई। यह भाषा एक शिशु 3–4 वर्षों में सीख जाता है। यह मानव परंपरा की महिमा है। यही मानव परंपरा के प्रति कृतज्ञता है कि इसे बनाए रखा जाए। इसे बनाए रखना प्रतिफल विधि से सफल नहीं हो सकता, उपकार विधि से ही सफल है। शिशु 3–4 वर्षों में इसे सीख लेता है। इसी के सहारे अपने भावों को व्यक्त करता है। इसी क्रम में इसमें श्रेष्ठता को स्थापित करता है। यह श्रेष्ठता अग्रिम पीढ़ी तक उपकार विधि से पहुँचती रहती है। इस प्रकार व्यवस्था में भागीदारी उपकार विधि से सफल है। प्रत्येक मनुष्य उपकार विधि से ही व्यवस्था में भागीदारी करता है।

उत्पादन एवं सेवा–कार्य जब परिवार के बाहर किए जाते हैं तब उसमें प्रतिफल की अपेक्षा होती है। प्रतिफल की अपेक्षा होना न्यायपूर्ण है। कई बार सम्बंधों के निर्वाह के क्रम में सेवा एवं

उत्पादन की हुई वस्तुएँ दी जाती है। एवं इसके लिए प्रतिफल की अपेक्षा नहीं होती। इसे भेंट कहा जाता है।

कर्तव्यों एवं दायित्वों का निर्वाह न्याय है। इसके साथ हर स्तर पर सुरक्षा होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्तव्य विधि से जीना न्याय व सुरक्षा है।

शिक्षा–संस्कार प्रक्रिया में भागीदारी न्याय एवं सुरक्षा है। स्वास्थ्य–संयम कार्य में मार्ग दर्शन एवं प्रेरणा देना न्याय एवं सुरक्षा है।

परिवार व्यवस्था में संबंध–निर्वाह न्याय एवं सुरक्षा है। परिवार व्यवस्था से बड़ी इकाई में भागीदारी न्याय एवं सुरक्षा है। शोध एवं अनुसंधान तथा इसका लोक व्यापीकरण न्याय एवं सुरक्षा है।

दायित्व विधि में प्रतिफल की अपेक्षा नहीं होती; यह उपकार विधि से, स्वयं की तृप्ति को व्यक्त करने का प्रयास है।

अभ्यास व अध्ययन

1. परिवार व्यवस्था में कितने प्रकार के कार्य होते हैं? कौन से?
2. कर्त्तव्य को विस्तार से स्पष्ट कीजिए।
3. दायित्व को विस्तार से स्पष्ट कीजिए।
4. उपकार–कार्य किसे कहते हैं?
5. न्याय एवं सुरक्षा किन विधियों से होती है?